वैदिक धर्म

अगस्त १९५१

सुहृदयता

अंक ८ आषाढ २००८ वर्ष ३२

वैदिक धर्म

[अगस्त १९५१]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

सहसंपादक

श्री महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.
वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष ३२ **वैदिकधर्म** अंक ८

क्रमांक ३२

▲ आषाढ, विक्रम संवत् २००८, अगस्त १९५१ ▲

≡ बिखरे भारतीयोंका संगठन ≡

दण्डा इवेद् गोअजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः ।
अभवच्च पुरएता वसिष्ठ आदित्तृत्सूनां विशो अप्रथन्त ॥

(ऋ० ७।३३।६)

(गोअजनास दण्डा इव) गाय हांकनेके दण्डे जिस प्रकार निर्बल होते हैं उस प्रकार (भरताः परिच्छिन्नाः अर्भकासः आसन्) भारतीय लोग बिखरे हुए और बालबुद्धिके थे । इनका (पुरएता वसिष्ठः अभवत्) नेता वसिष्ठ ऋषि हुआ, (आत् इत्) तबसे (तृत्सूनां विशः अप्रथन्त) भारतीय प्रजाजन उन्नत होने लगे ।

भरत लोग आपसमें झगडते थे; इसलिये उनमें संगठन नहीं था । वे बुद्धिसे भी बालकोंके समान ही थे; इसलिये वे निर्बल थे । आगे जाकर वसिष्ठ ऋषि उनका नेता बना । इस कारण उनमें एकता उत्पन्न हुई । संगठित होनेके कारण वे बलवान बन गये तथा यशस्वी होने लगे । अपना अभ्युदय कर सकनेमें वे समर्थ हो गये । जो परस्पर संगठित होंगे वे उन्नति कर लेंगे तथा जो बिखरे रहेंगे वे निर्बल होते रहेंगे ।

हमने विश्वासघात किया है

लेखक- श्री आचार्य विद्यानन्द विदेह, अध्यक्ष, वेद संस्थान, अजमेर

पराधीनतामें हम स्वाधीनताके लिये आकुल थे। परन्तु इस स्वाधीनताके युगमें हम अपनेको उस पराधीनताके युगसे भी कहीं अधिक जकडा हुआ और बेबस पा रहे हैं।

पहली बार जब यह सुना कि १४ और १५ अगस्त १९४७की सन्धि बेलामें हमारा विशाल आर्यावर्त स्वतन्त्र हो जायेगा, तो हम हर्षातिरेकसे उछल पडे और बडे बडे भव्य नूतन स्वप्नोंकी दुनियामें विचरते हुए उस सौभाग्यपूर्ण क्षणकी प्रतीक्षा करने लगे।

स्वतन्त्रताकी वह चिर-प्रतीक्षित घड़ी आई। क्षत-विक्षत घायल मातृभूमिको हमने तिरंगी झंडियोंसे सजा कर बल्वदीपोंसे जगमगाया और 'वन्दे मातरम्' से उसका अभिवादन किया। मां की आंखोंमें विषादकी रेखाओं पर अश्रु झलक रहे थे। अंग-भंगकी पीडासे कराहती हुई ममतामयी माताने आशीर्वाद दिया, "तुम्हारा कल्याण हो" आशाभरी निगाहोंसे निहारते हुए माताने फिर कहा "सुमन और सहृदय होकर आगे बढो मेरे पुत्र पुत्रियो!" बस, स्वतन्त्रता-समारोह समाप्त हो गया, वह कृत्रिम उल्लास आहोंमें विलीन हो गया।

१४-१५ अगस्त १९४८ की सन्धिबेलामें हमने स्वतन्त्रताकी प्रथम वर्षगांठ मनाई। परन्तु माताका मुख पुनः म्लान और रुग्ण था। अपने कोटि कोटि पुत्र पुत्रियों को सान्त्वना देनेके लिये माताने मुस्करानेका विफल प्रयास किया। मां के नेत्रोंसे अश्रुओंकी धारा बहने लगी। कोटि कोटि कण्ठोंसे निनाद हुआ "क्यों मां!" अपने क्षीर-क्षीर दामनसे अपनी आंखोंको पोंछते हुए मां बोली–

"गत स्वतन्त्र वर्षमें तुमने मेरे और अपने कौनसे स्वप्न पूरे कर दिये? तुम कहा करते थे पांच सौ रुपयेसे मासिक अधिक वेतन वायसरायको भी नहीं मिलना चाहिये, आज तुम स्वयं हजारोंके वेतन ले रहे हो। तुम कहा करते थे भ्रष्टाचार पराधीनताका अभिशाप है, आज वही भ्रष्टाचार स्वाधीनताका उपहार हो रहा है। तुम कहा करते थे विदेशी भाषा, वेश और सभ्यता देशके लिये कलंक हैं, पर, आज भी तुम्हें इन तीनोंसे उत्कट अनुराग है। तुम कहा करते थे शस्त्र कानूनको रद करके समस्त राष्ट्रको सशस्त्र करना चाहिये, पर तुमने तो सशस्त्रोंको भी निःशस्त्र कर दिया। विदेशी शासनमें तुम जिस नौकरशाही और आतंकवादकी निन्दा किया करते थे, स्वतन्त्र होकर तुमने उस नौकरशाही और आतंकवादको और भी अधिक दुर्धर्ष और बीभत्स बना दिया है। कहां गये तुम्हारे वे भाषण और लेखन-स्वतन्त्रताके दावे? स्वतन्त्र होकर तो तुमने लोगोंकी जबानें बन्द करदीं और उनकी लेखनियां तोड डालीं। आशा तो यह थी कि तुम निस्तेजोंको सतेज करोगे, परन्तु तुमने तो सतेजोंको भी निस्तेज बना दिया। सोचा था फूटका विनाश और ऐक्यका सम्पादन करके तुम मेरे घावोंको पूर दोगे, पर तुम तो गन्दी दलबन्दियों और संकीर्ण प्रान्तीयतामें फँस कर मेरे घावोंको गहरा कर रहे हो। तुम बातें तो किया करते थे मजदूरों और किसानोंके राज्यकी, परन्तु मैं देख रही हूं आज वकीलों और पूंजीपतियोंके राज्य। मैं समझती थी स्वतंत्र हो कर तुम निःस्वार्थ साधनासे मेरा ललाट ऊंचा करोगे, किन्तु तुम तो स्वार्थसाधनामें बेसुध होकर शासन और सत्ताके लिये मोर्चे बना रहे हो। मैंने तो समझा था कि स्वतन्त्रता तुम्हें निर्भीक और साहसी बना देगी, परन्तु तुम तो अतिशय संशयात्मा और झिझकशील बन गये। आज भी लुट रही हैं ललनाओंकी लाज, आज भी हो रहा है मातृत्वका अपहरण और मानवताका अपमान। चारों ओर छा रही है अशिक्षा और छूआछूत, दारिद्रता और दुरित। और जिसपर भी तुम्हें सूझ रहे हैं सिनेमा और थियेटर, राग और रंग, भोग और विलास, व्यसन और परिहास।"

× × × ×

राष्ट्रनागरिको! १५ अगस्त १९४८ को हमने स्वतन्त्रताकी प्रथम वर्षगांठ मनाई थी। फिर १९४९ में दूसरी वर्षगांठ मनाई। १९५० में फिर तीसरी बार स्वतन्त्रता दिवस मनाया। और अब पुनः यह शुभ दिवस इस वर्ष १५ अगस्तको आ रहा है। परन्तु क्या हम हृदय पर हाथ रखकर कह सकते हैं कि हमने मां के स्वप्न पूरे कर दिये हैं? क्या स्वतन्त्रताके इन चार वर्षोंमें हमने कुछ भी उन्नति की है? क्या यह सत्य नहीं है कि हम उन्नतिके

स्थानपर दिनोंदिन अवनतिका ही वरण करते चले जा रहे हैं? क्या यह कथन मिथ्या है कि अंग्रेज जिस जीर्ण-शीर्ण राष्ट्रभवनको छोड़ गये थे, वह अधिकाधिक खंडहर ही होता जा रहा है? तनिक हृदय पर हाथ रखकर, मातृभूमिकी साक्षी करके, अन्तः की गहराईमें पैठ कर सोचिये तो सही, कि आप कहां हैं, आपका देश कहां है, और आप किस ओर बेतहाशा भागे चले जा रहे हैं? निस्सन्देह, आप यदि विचार करेंगे तो क्या किसी शुभ परिणाम पर नहीं पहुचेंगे!

पर्वों तथा शुभतिथियोंको मनानेकी प्रथा इसीलिये डाली गई थी कि उस दिन लोग उन घटनाओंको याद करें जिनके लिये कि वे पर्व मना रहे हैं और यह भी सोचें कि गत वर्षके उसी दिनसे लेकर इस वर्षतक उन्होंने क्या किया? स्वतन्त्रता दिवसको यों ही खेलखेलमें ही न बिता दीजिये। उस दिन एकान्तमें कुछ समय बैठकर इन सब बातों पर विचार कीजिये और यदि आपको भूतपर पश्चात्ताप हो, यदि आगे कुछ शिव और श्रेष्ठ करनेको चाह हो, तो सोचिये कि आप अपनी रोजी कमाते हुए किस प्रकार राष्ट्रके प्रति अपना कर्तव्य अदा कर सकते हैं।

पेट तो पशु भी भर लेता है। केवल अपना और अपने स्त्री बच्चोंका पालन पोषण तो जंगली जानवर भी करते हैं। यदि यही हमारा और आपका भी ध्येय है तो फिर पशुओंमें और हम मनुष्योंमें अन्तर ही क्या रहा? पशुवत् खाना पीना, किसी प्रकार जीवनके दिन पूरे करना और चले जाना यह तो कोई जीने योग्य जीवन नहीं है। मनुष्य वह है जो विचार करता है, विचार करके अपना कर्त्तव्य निर्धारित करता है, और कर्त्तव्यके लिये ही जीता है, और कर्त्तव्य करता हुआ ही मृत्युका वरण करता है।

मां आज भी रो रही है। आज भी वही हालत है जो मा के उपर्युक्त शब्दोंमें प्रथम स्वतन्त्रता दिवस पर थी। नहीं, नहीं, आज तो परिस्थिति और भी भयानक और नाजुक है। आज तो मां के आंसू रुकते ही नहीं, आंसुओंकी बाढ आ रही है, मां का गला रुंधा जा रहा है, मुंहसे बोल नहीं निकल रहे हैं।

धिक्कार है हम मां के पुत्रोंको! धिक्कार है हमें जिन्होंने मां के साथ विश्वासघात किया है। क्या हमारे ही भाई आज रावण और जयचन्द्रका अभिनय नहीं कर रहे हैं। क्या हम आज फिर मां को परतन्त्र बनानेके काम नहीं कर रहे हैं। वे हममें ही से तो हैं जो पर-शक्तियोंको आमंत्रित कर रहे हैं-हम पर हावी होनेके लिये, हमारा रक्त चूसनेके लिये। वे हमारे भाई ही तो हैं जो रूस और अमेरिकाकी साम्राज्यवादी छाया इस देशमें भी देखना चाहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेजोंकी गुलामीसे पेट नहीं भरा है।

हमने मां के कौनसे स्वप्न पूरे कर दिये? हमने अपने वायदोंको कहां तक निभाया है? आज भी शासनकी कुर्सियोंपर बैठे हुए हमारे तथाकथित नेता हजारोंके वेतन और भत्ते ले रहे हैं। भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी आज भी चल रही है और खूब चल रही है। जो सत्यके मार्ग पर चलना चाहते हैं, जो ईमानदार रह कर काम करना चाहते हैं उन्हें मजबूरन बेईमान बनना पड रहा है—पेटकी खातिर। आज तो परिस्थिति यह है कि यदि व्यापार करना है, यदि परमिट लायसेन्स लेने हैं तो अधिकारियोंको रिश्वतकी माला पहनाइये, तब ही आपका काम हो सकता है, वरना हाथ पर हाथ रखे बैठे रहिये और भुगतिये। सरकारी स्कीमें आयेदिन फेल हो रही हैं। जो स्कीमें फेल नहीं होतीं, वे समय पर पूरी नहीं हो पातीं। यह सब क्यों होता है? इसीलिये ना कि हमने तो मांके साथ विश्वासघात करनेकी कसम खा रखी है, प्रण ले रखा है।

आज भी जिधर देखो उधर ही विदेशी भाषा, वेश और सभ्यताका ही दृश्य दिखाई देता है। आज भी सरकारी काम और कचहरियोंकी कार्यवाहियां अंग्रेजीमें होती हैं। आज भी सूट-बूट-धारी साहिबोंकी जितनी कद्र है उतनी देसी वेशभूषावालोंकी नहीं। आज भी हमारी प्रत्येक बातमें, हमारे विचारोंमें, हमारे व्यवहारमें, हमारी बोलचालमें, हमारे खानपानमें, सर्वत्र विदेशीय सभ्यताका ही बोलबाला है। उस विदेशीय सभ्यताका जिसने हमें इतने दीर्घ काल तक दबोचे रखा, जिसने हमारा सब कुछ उजाड दिया, जिसने हमारी मां के अंग भंग कर डाले। हमें तो चाहिये था कि, हमारे शोषकोंकी इन निशानियोंको स्वतन्त्र होते ही तिरस्कृत कर देते। आज भी शिक्षाका माध्यम अंग्रेजी ही है। शिक्षाप्रणाली भी वही है जिसका काम सिर्फ क्लर्क पैदा करना है, नागरिक नहीं।

आज भी शासनके शिकंजे उतने ही कड़े हैं जितने अंग्रेजी राजमें थे। आज भी लोग फौज, पुलिसके नामसे और सरकारी अफसरोंसे उतने ही घबराते हैं जितने कि

पहिले घबराते थे। यही नहीं, वरन् स्वतन्त्र होनेके बादसे तो शासन के ये खूनी पंजे और भी कडे होते जा रहे हैं।

जिधर दृष्टि जाती है, उधर तबाही ही तबाही नजर आती है। स्वतन्त्रताका वह उल्लास, हर्ष और उत्साह दिखाई ही नहीं देता, जो कि दिखना चाहिये। इसका कारण यही है कि स्वतन्त्र होकर लोगोंने जो आशायें लगाई थीं, उन्हें भंग कर दिया गया है। स्वतन्त्र होनेके बाद भारतका नवीन संविधान बना। उसमें नागरिकोंको कुछ मूलभूत अधिकार दिये गये थे। कांग्रेसी शासनने उनमें भी काट छांट कर दी। अभी इसी वर्ष भाषण और लेखनकी स्वतन्त्रतामें बंधन लगा दिये गये हैं। स्वतन्त्र होकर तो स्वेच्छाचारिताका साम्राज्य बढता जा रहा है। शासन जो चाहता है करता है, जिसको चाहता है मारता है, जिसे चाहता है जिलाता है। निरंकुशताका साम्राज्य चारों ओर फैला हुआ है।

लोग त्राहि त्राहि कर उठे हैं। चार वर्षोंमें नेताओंकी नीयतोंका, उनकी योग्यताओंका, और देशवासियोंकी देशभक्तिका कच्चा चिट्ठा सामने आ गया है। स्पष्ट पता लग गया है कि किसीको मां का प्यार नहीं है। किसी-को स्वार्थरहित होकर देश सेवाकी चाह नहीं है। सब जेबें भरनेमें लगे हुए हैं और गरीब जनता है कि पिस रही है। उनको न खानेको भरपेट अन्न मिलता है, न तन ढंकनेको पूरा वस्त्र ही मिलता है। लाखों करोडों मानव इस देशमें ऐसे हैं जो केवल एक समय भी भरपेट भोजन नहीं पाते। बिहार, मद्रास, आदिमें दुर्भिक्षकी स्थिति है। विदेशी बाजार भारतीय कपडोंसे पाटे जा रहे हैं, जब कि इस देशमें जनता कपडेके लिये मुंहताज है। आजकी आर्थिक परिस्थितियां जानते बूझते ऐसी बनाई जा रही हैं कि अमीर गरीबके बीचकी खाई चौडी होती जा रही है। दोनों वर्ग एक दूसरेको दोष देते हैं जब कि वास्तविकता यह है कि दोषी दोनों ही हैं। राष्ट्रीय कामों के लिये तो पैसा नहीं है। परन्तु ऐशो आराममें उडाने के लिये कुबेरका खजाना भरा पडा है। हजारों रुपये हवाई जहाजोंमें सैर करनेमें नेता लोग उडा रहे हैं; फिर भी बहाना यह है कि पैसा नहीं है। 'अंधा बांटे रेवडी, फिर फिर अपने ही को देत' वाली कहावत पूर्णतः चरितार्थ हो रही है।

यदि यही अवस्था रही तो स्वतन्त्रता अवश्य संकटमें पड जायेगी। रेतका बना हुआ पहाड कब तक स्थिर रह सकेगा। एक न एक दिन जोरकी हवा चलेगी और पहाड-का नामों निशां भी न रहेगा।

नागरिको! माताकी वेदनाको अनुभव करो और अपने कर्त्तव्यका निश्चय करो। साहस और विवेकको प्रज्वलित करके अपने स्वप्नोंको सिद्ध और वचनोंको सार्थक करो। कुशलकर्मा बनकर सतर्कतासे दृष्टिपात करते हुए, दिनके प्रकाशकी तरह, मातृभूमिमें चारों ओर प्रकाश पूर दो। स्वतन्त्रताके गत चार वर्ष हमने यों ही गंवा दिये। इतना सुविशाल और साधन सम्पन्न राष्ट्र चार वर्षमें बहुत आगे बढ सकता था।

स्वतन्त्रताकी आगामी वर्षगांठ आनेतक अपने उन समस्त स्वप्नोंको कार्यान्वित कर डालिये। वीरों और बुद्धिमानोंकी तरह अपनी घोषणाओंके अनुरूप आचरण कीजिये। इस आत्मधारणाके साथ, कि जो कुछ कहा है उसे कर दिखाना है, आगे बढिये। इसीमें आपकी शोभा है, राष्ट्रका हित है। आज देशको ऐसे ही नरमेधावियोंकी आवश्यकता है।

वेदमाताके शब्दोंमें नागरिकोंका कर्त्तव्य यह है। सोचिये और कुछ कीजिये —

सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुरनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम्।
विभ्राजमानांश्चमसाँ अहेवावेनत्त्वष्टा चतुरो ददृश्वान्॥
(ऋ० ४-३३-६)

(नरः ऋभवः) नर मेधावी (सत्यं ऊचुः) सत्य बोला करते हैं, (अनु एव हि चक्रुः) तदनुसार ही आचरण किया करते हैं—(एतां स्वधां) इस आत्म धारणाको [नागरिक] (जग्मुः) प्राप्त रहा करते हैं।

(ददृश्वान्) सतर्क दृष्टि (त्वष्टा) कुशल कर्मा (चतुरः विभ्राजमानान् चमसान्) चारों चमकीले चमसों [विद्या, विज्ञान, धन, शक्ति-कोषों] को (अहा इव) दिनोंके समान (अवेनत्) जगमगा दिया करता है।

नागरिकोंको नर मेधावी बनकर, जो बोलें वैसा ही करें इस आदर्शसे युक्त रहना चाहिये और राष्ट्रकी चतुर्मुखी उन्नति करके तमको हटा कर प्रकाश फैलाना चाहिये।

भारतीय संस्कृतिका स्वरूप

[लेखांक ४]

(लेखक— श्री. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर)

अबतकके लिखे हुए लेखोंमें हमने जिन विषयोंकी चर्चा की है वे संक्षेपसे इस प्रकार हैं—

ऋषियोंकी घोषणा

१— हमें ' विश्वमें शान्ति ' स्थापित करनी है और वह (शान्तिरेव शान्तिः) सच्ची शांति होगी।

२— यह सिद्ध करनेके लिये हमें अपने राष्ट्रका राज्य-शासन वैदिक तत्त्वज्ञानके अनुसार चलाना है; क्योंकि इसीके द्वारा ' राष्ट्रमें शांति ' स्थापित करनेमें हम सफल होंगे।

३— राष्ट्र-शासनके लिये निर्दोष मनुष्य तैयार करने होंगे। इसके लिये हम व्यक्तिको तैयार कर उसे ऊंच्च स्तर-पर उठायेंगे तथा ' व्यक्तिमें शांति ' स्थापित करेंगे।

४— यह सिद्ध करनेके लिये शिक्षाकी उत्तम व्यवस्था करनी होगी। यह शिक्षा सबके लिये निःशुल्क होनी चाहिये तथा शिक्षासंस्थाका वातावरण पूर्णतः स्वतन्त्र रहना चाहिये; यही हमें करना होगा।

५—राष्ट्रमें निरोगिता रखनेके लिये हमें उत्तम आरोग्य व्यवस्था रखनी होगी। इस प्रकार हम अकालमृत्यु एवं अपमृत्युको दूर करेंगे और रोगियोंके लिये औषध-व्यवस्था भी उत्तम रखेंगे।

६— बालमृत्युका उत्तरदायित्व हमारी सरकारपर रहेगा और इसके लिये जो कुछ सम्भव होगा किया जायगा।

७— सबको खानेके लिये पर्याप्त एवं सकस अन्न मिलेगा तथा पीनेके लिये पौष्टिक पेय मिलेगा। इस प्रकारसे लोग वृद्धावस्थामें भी युवकके समान रहेंगे।

८— हमारे राज्यशासनमें सबको उत्तम निर्भयता प्राप्त होगी एवं गुण्डोंका हम उच्चाटन करेंगे।

९— असमय वार्धक्य न आनेके लिये जो भी उपाय सम्भव होंगे वे किये जायंगे तथा राष्ट्रके मनुष्योंकी आयु औसतन १०० वर्षकी हो, ऐसा प्रबन्ध करेंगे।

१०— समस्त जनताको इस प्रकारसे इस पृथ्वीपर ही स्वर्गसुख प्राप्त होगा और यही हमारा ध्येय है।

गत लेखोंके विषय राजकीय पक्षकी घोषणाके रूपमें हमने यहाँ प्रस्तुत किये हैं। किन्तु ये ही विषय इससे पूर्व धार्मिक भाषामें निर्दिष्ट किये गये हैं। भाषा धार्मिक हो अथवा राजनीतिक हो, हमारा तो ध्येय पृथ्वीपर स्वर्गधाम बनाना है। इस बातको पाठक यहाँ अनुभव करेंगे।

सामुदायिक अनुशासन

वैदिकधर्म सामुदायिक अनुशासनका धर्म है। समुदायके अनुशासनमेंसे व्यक्तिको अनुशासित बनानेकी प्रणाली थी। समस्त धार्मिक कृत्य- जो श्रौत अथवा वैदिककृत्य माने जाते हैं- वे सब सामुदायिक उच्चता प्राप्त करनेके लिये ही होते थे। अकेला मनुष्य समाजसे पृथक् होकर वह अपने लिये स्वतन्त्र कुछ करे, इस प्रकारके विचार उस ऋषि-जीवनकालकी कल्पनामें भी न थे।

सबकी एकात्मता

सबका आत्मा एक, सबका कारण शरीर एक तथा सबका कल्याण सामुदायिक रूपमें (संभूत्या अमृतं) है, ऐसी विचारधारा उस समय थी। जैन और बौद्धोंने वैयक्तिक स्वतन्त्र आत्माके अस्तित्वकी कल्पना की। उसके कारण

वैयक्तिक अनुष्ठानकी परंपरा प्रचलित हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि वैदिक समाजका 'सम्भूय समुत्थान' नष्ट हो गया तथा व्यक्तिवाद-व्यक्ति भिन्नतावाद-प्रबल हुआ। 'मैं स्वतन्त्र हूँ, मुझे उससे क्या' यै कल्पना बुद्धके पश्चात् की है। पूर्वकी यज्ञ कल्पना 'सत्कार-संगति-उपकार' इन त्रिविध प्रक्रियाओंसे युक्त थी और उसमें 'संगतिकरण' अध्यमें किस प्रकार उपयुक्त जंचता है, यह पाठक देखें।

'(१) समाजमें जो लोग सत्कार करने योग्य होंगे उनका सत्कार किया जाय, (२) समाजका संगतिकरण अर्थात् संगठन किया जाय एवं (३) जो हीन दुर्बल हैं उन्हे सहायता पहुँचायी जावे' यह यज्ञकी त्रिविध कल्पना पूर्णतः सामुदायिक हितकी थी। सबका आत्मा एक, सबका कारण शरीर एक, सबका कल्याण संगठन द्वारा ही होगा, इस मूलभूत विचारधारापर यह यज्ञकी कल्पना आधारित थी। यह सारी सामुदायिक विचार दृष्टि जैन और बौद्धोंके आत्यन्तिक व्यक्तिवादसे नष्ट भ्रष्ट हो गई तथा व्यक्तिवाद उत्पन्न हुआ; वह आज हिंदुओंमें 'दस कनौजे ग्यारह चूल्हे' इस रूपमें अभिवृद्ध होकर हिन्दुओंमें आज भी संगठन नहीं होने देता। हिंदुओंकी जनसंख्या अधिक होनेपर भी छोटा किन्तु सुसंघटित समाज आज इस हिंदु समाजके लिये जीवित रहना भी दूभर किये हुए है।

वैदिक विचारधाराका अन्तिम ग्रन्थ 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' है। इस गीतामें 'मैं सबके देहमें जीवभावसे रहता हूँ' इस प्रकारसे एकात्मकताका प्रतिपादन करनेपर भी 'मुझे उससे क्या' जैसे भाव आज प्रबल दिखाई दे रहे हैं। इसका कारण यह है कि हिन्दु गीताको पचानेमें (अपने जीवनमें उसे ढालनेमें) असमर्थ रहा। मुझे तो इन बौद्ध विचारोंका अजीर्णसा हो गया है! यह अजीर्ण किस सीमातक हुआ है यह देखनेके लिये हम जीवके जन्मके विषयमें दोनोंकी कल्पनाका विचार करेंगे।

बालकके उत्पन्न होते ही उसकी ओर देखकर वैदिक ऋषि इस प्रकार कहते थे—

वैदिक धर्मका बालक

"अहाहा! साक्षात् परब्रह्मका अंश इस स्थानमें इस बालकके शरीरमें (अजायमानो बहुधा विजायते। यजु०) अवतरित हुआ है। इसके साथ ३३ मुख्य देवताओंके अंश भी संमिलित है। यह देखिये नेत्र स्थानमें सूर्यका अंश है। यह देखिये नाक द्वारा संचरित होनेवाला एका-दश रुद्रका अंश यहाँ प्राणरूपसे कार्य कर रहा है। अरे यह अंगुष्ठमात्र पुरुष हृदयमें सबका संचालन कर रहा है। इस पुत्रदेहमें ये ३३ देवताओंके अंश रहकर सम्पूर्ण शरीरका संचालन कर रहे हैं। इस शरीरमें ३३ कोटि-अणु सजीव हैं। वे सभी विश्वव्यापी ३३ कोटि देवताओंके अंश हैं। इस प्रकार बालकका यह शरीर सचमुच देवोंके अंशसे बना हुआ है। यह देवतामय बालक हमारे कुलमें उत्पन्न हुआ है, यह हमारा कितना सौभाग्य है। इस मेरी पत्नीने यह दिव्य ऐश्वर्य नौ महिने अपने उदरमें धारण किया, यह इस स्त्रीकी कितनी महान् योग्यता है, इसका कितना वर्णन किया जावे। इसे प्राप्त करके मैं धन्य हुआ हूं। जिस मेरे घरमें अखण्ड विश्वका अधिपति रूप यह अंश रूपमें उत्पन्न हुआ है"

नवजात बालककी ओर देखनेका यह वैदिक दृष्टिकोण है। यह इस शरीरको "देवता का मन्दिर" है, ऐसा कहता है। अमुक अवयव अमुक देवताका अंश है, यह बात इसे विदित है। (ऐतरेय उपनिषद् देखें) शरीरका कोई भाग देवताके बिना नहीं है। सारा शरीर इस प्रकार दैवी शक्तियोंसे युक्त है, इसे यह जानता और अनुभव करता है। इस दैवी शक्तिका पूर्ण विकास करना इसका कार्यक्रम है। यहाँ अकर्मण्यताके लिये स्थान नहीं है। शारीरिक ज्ञान तथा आन्तरिक शक्तिका विकास करनेका कार्य, इस प्रकार यह ज्ञान और कर्मकी यहाँ संगति है।

सुपुत्र निर्माण करना

इस समयके लोग पुत्रकामेष्टि यज्ञ करते थे एवं जैसा चाहे वैसा पुत्र अथवा पुत्री उत्पन्न करते थे। पुत्रकामेष्टि यज्ञ निपुत्रकोंके करनेके लिये होता है, इस प्रकारका एक भ्रम पाठकोंमें विद्यमान है। चाहे जैसा पुत्र अर्थात् ज्ञानी, वीर, कुशल, वक्ता, तत्वज्ञानी, राजनीतिज्ञ, जैसा चाहिये वैसा पुत्र उत्पन्न करनेकी यह एक विशेष पद्धति है। प्रथम वर्ष दो वर्ष प्रवस्थ रहना चाहिये, पतिपत्निको नियमबद्ध रीतिसे रहना चाहिये, खानपान तथा विचार नियमित रीतिसे रखने चाहिये, आदि सम्पूर्ण विधियाँ इसमें है। अमुक [illegible]

ही पुत्र अपेक्षित है, ऐसा मानकर वैसा उत्पन्न करना। यह बात राष्ट्रीय दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

बृहदारण्यक उपनिषद् पढनेवाले अनेक हैं। किन्तु उसके इस अंतिम भागकी ओर कोई देखता नहीं और पुत्र कामेष्टि यज्ञका इस दृष्टिसे कोई विचार भी नहीं करता। आज लोग ऐसा समझते हैं कि गीता और उपनिषद् जैसे ग्रन्थ वृद्धोंके पढनेके लिये हैं ! किन्तु गीता सुनकर अर्जुनने युद्ध किया और स्वराज्य प्राप्त किया; अतएव इस बातको भूल जाती है कि उपनिषद्के तत्त्वज्ञानको प्राप्त करके यथेच्छ पुत्र उत्पन्न किया जा सकता है तथा इस प्रकार राष्ट्रमें दिव्यपुरुषोंका आधिक्य निर्माण करना भी संभव है। ८० वर्षके पश्चात् दिव्य संतान कैसे उत्पन्न होगी ? किन्तु हमारे धर्ममेंसे तो उपयोगी भाग ही विनष्ट सा हो गया है। इसका कारण हमारा दृष्टिकोणही बौद्ध विचारोंसे सर्वथा बदला गया है एवं वह आजतक सुधर नहीं सका है।

अब हम यह देखेंगे कि नवजात बालककी ओर देखकर जैन और बौद्ध क्या कहते हैं—

बौद्धोंके घरका बालक

" यह पापी जीव इस शरीर रूपी जेलखानेमें किस लिये आया है ? यह मलमूत्रके इस गढ्ढेमें क्यों सड रहा है ? अरे रे ! यह कितना दुर्भाग्य है। यह इसकी कितनी दुर्भाग्यपूर्ण हीन अवस्था है। पूर्वजन्मका कौनसा महापाप इसने किया है ? इस पापी स्त्रीने इसे उत्पन्न किया है। यही इन सम्पूर्ण अनर्थोंकी जड है।"

इस विचार सरणीको देखिये तथा प्राचीन ऋषियोंकी विचारसरणी देखिये। इस संसारमें हमें रहना है। यहाँका हमारा स्वराज्य सचमुच सुखपूर्ण एवं आनन्दमय बनाना हो तो मनुष्यजन्मके सम्बन्धमें किस प्रकारके विचार धारण करने चाहिये इसपर यहाँ पाठक विचार करें।

यहाँ अपने स्वराज्यमें हमें यदि स्वर्ग सुखका अनुभव करना हो तो वैदिक विचार सरणीका अवलम्बन किये बिना दूसरा मार्ग ही नहीं है। इस प्रकारके ओजस्वी विचार धारण करने चाहिये तथा नवीन पीढी जिस विशिष्ट प्रकारकी निर्माण करनी हो उसके अनुरूप वातावरण अपने राष्ट्रमें निर्माण करना चाहिये तथा वैसे ही प्रयत्न भी करने चाहिये। इस प्रकार करनेपर हम देख सकते हैं कि एक दो पीढीमें ही इस राष्ट्रकी कायापलट होगई है।

ब्रह्मज्ञानका फल ' सु-प्रजा '

अथर्ववेदमें ' ब्रह्मज्ञानका फल सुप्रजा है ' ऐसा लिखा हुआ हम देखते हैं। ' ब्रह्म ज्ञानके अनन्तर विवाह तथा विवाहके अनन्तर इष्ट सुप्रजाका निर्माण ? यह इस प्रकारका वैदिक कार्यक्रम है, किन्तु आजका कार्यक्रम बुढापेमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेका है और उस अवस्थामें प्रत्यक्ष परमेश्वरभी यदि आजाय तो भी सुप्रजा दे सकना उसकी शक्तिके बाहरकी बात है। यदि ऐसी परिस्थितिमें विचारधारामें परिवर्तन हो सके तो भी उसके अनुकूल वयोमर्यादाभी तो अपेक्षित है। आज-का युवक जिस आयुमें विश्वविद्यालयका उपाधिधारी बनता है उस आयुमें वैदिक कालमें ब्रह्मज्ञान होता था। उसके पश्चात् ब्रह्मचारी देशभ्रमण तथा धर्म प्रचार करते थे तथा बादमें विवाह करके ५० वर्ष पूरे होजानेपर वानप्रस्थी बनकर गुरुकुलोंमें अन्नवस्त्र मात्र लेकर अध्यापन करते थे। इस प्रकार केवल अन्नवस्त्रके खर्चसे उस समय अध्यापक मिल जाते थे। यही कारण था कि वसिष्ठ जैसे ऋषि हजारों छात्रोंका विद्याध्ययन बिना शुल्कके करा सकते थे।

उस कालके अध्यापक शिक्षाका कार्य अपना कर्तव्य मानकर किया करते थे। धन कमानेकी उन्हे आवश्यकता न थी, किन्तु आज युवकोंको ही अध्यापन कार्य करना पडता है तथा उन्हे गृहस्थी चलानेके लिये धनकी आवश्यकता भी रहती ही है। इस कारण शिक्षण मंहगा होता जा रहा है और सबके लिये प्राप्त होना कठिन होता जा रहा है। ऋषियोंने इसीलिये शिक्षाकी व्यवस्था निःशुल्क की थी।

विश्वशांति स्थापन करनेकी ऋषियोंकी ये कल्पनायें मात्र न थीं, अपितु उसके लिये लगनेवाले वे मनुष्य जो ऊँचे स्तरपर जीवनव्यवहार कर सकें, निर्माण करनेका उनका यह व्यवस्थित कार्यक्रम उन्होंने बनाया था। ' समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट् ' यह जो ऋषियोंकी घोषणा थी, उस घोषणाके पीछे आजके ' यू. नो ' के समान स्वार्थ न था; अपितु विश्वके स्थायी कल्याणकी महत्त्वाकांक्षा थी। आज हम इस प्रकारके इस कार्यक्रमसे बहुत दूर हो गये हैं।

यदि विश्वशांति स्थापन करनी हो तो उसके लिये यह आवश्यक है कि राष्ट्रका राज्यशासन अपने हाथमें हो;

प्रथम हमें अपने राष्ट्रमें शांति स्थापन करनी चाहिये। उसके लिये उत्तम, शीलसम्पन्न तथा कर्तृत्ववान प्रभावी पुरुषोंकी आवश्यकता रहा करती है। प्रजाको सुप्रजाके रूपमें होना चाहिये। उसके लिये गृहस्थाश्रमकी तैयारी करनी चाहिये और वह इस विशिष्ट प्रकारसे ही करनी चाहिये। इसके लिये कठोर अनुशासन अपेक्षित है। यदि वह न होगा तो राष्ट्रका निर्माण होना भी असम्भव है। इस कार्यक्रमकी यह परंपरा ध्यानपूर्वक पाठक विचार कर देखें, इसमें बुद्धिपूर्वक राष्ट्र नियोजन है तथा यही मुख्य है।

रावण-साम्राज्यके विरुद्ध ऋषियोंने क्रान्ति की। इस समय भी इन्होंने इसी पद्धतिसे नयी पीढीका निर्माण किया। 'रावण-वध उद्यत' ही मानो प्रत्येक युवक बन गया। इन युवकोंका रामको पूरा सहयोग प्राप्त हुआ। यह कार्य सतत एवं अविश्रान्तगतिसे ४० वर्षोंसे जारी था। इस समय पीढीकी पीढी नवीन उत्साहसे परिपूर्ण थी।

'सुप्रजा निर्माण' ऋषियोंके कार्यक्रमका एक प्रमुख भाग था। यह बात यदि हम ठीक ठीक समझ सकें तो हमें यह अच्छी प्रकार ज्ञात हो सकता है कि तत्कालीन दृष्टिकोण धरतीपर स्वर्ग स्थापन करनेमें किस प्रकार उपयुक्त था। उत्तम सन्तान, उत्तम वीर संतान निर्माण करनेकी योजना हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें अनेक हैं। श्रीमद्-भागवतमें कश्यप और अदितिका संवाद इस दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जगद्विख्यात वीर पुरुष उत्पन्न हो, ऐसी अदितिकी इच्छा थी। कश्यपऋषिने इसके लिये 'एक वर्षतक अमुक नियमका पालन कर तथा बादमें यह प्रश्न पूछ' ऐसा उससे कहा। वैसा करनेपर उसे दिग्विजयी पुत्र उत्पन्न हुआ। द्रौपदी एवं धृष्टद्युम्न जैसी सन्तानें इसी उद्देश्यसे उत्पन्न की गई थीं। एतद्विषयक वर्णन अनेक स्थानोंपर हैं और वे सब देखने योग्य हैं।

इन सबका तात्पर्य यह है कि 'हमें अमुक प्रकारका पुत्र हो' ऐसी सुदृढ महत्वाकांक्षा पत्नी एवं पतिको मनमें धारण करनी चाहिये। वैसा वातावरण अपने चारों ओर रखनेका प्रयत्न करना चाहिये, खानपान तदनुकूल रखना चाहिये, *नियम एवं व्रत*को साधन बनाना चाहिये, तथा विरोधी विचार मनमें न आने दे। इस प्रकार इष्ट प्रजा निर्माण की जा सकती है। अगली पीढीको तयार करना हो तो प्रथम मातापिताको विचारवान् बनना चाहिये।

स्वार्थी, ढोंगी, रिश्वतखोर, काळाबाजार करनेवाले, स्वार्थके लिये दूसरेकी गर्दन काटनेवाले यदि मातापिता होंगे तो वैसे बीजसे वैसा ही अंकुर उत्पन्न होगा। किन्तु यदि शीलवान् वातावरण उत्पन्न होगा तो सन्तान भी शीलवान् होगी। वैदिक कालमें यज्ञद्वारा इस प्रकारका शील-सम्पन्न वातावरण निर्माण किया जाता था तथा वीर पुत्रका निर्माण करना भी यज्ञोंका एक भाग था। इसी-लिये सपत्नीक यजमानकी यज्ञके लिये आवश्यकता रहती थी। अकेले पुरुषसे यज्ञ होता ही न था, इसका यही एकमात्र कारण है।

वेदमें पुत्रके लिये 'वीर' नामका ही प्रयोग हुआ है। 'वीर पुत्र हो' यह कितनी प्रबल इच्छा इस वैदिककालमें थी, यह इस बातसे समझमें आ सकती है। लडकेको 'वीर' तथा लडकीको 'वीरा' अथवा 'एकवीरा' कहा जाता था। लडका और लडकी वीरतासे युक्त हो यह कटाक्ष भला किसलिये होना चाहिये! इस भूमिपर स्वर्गधामका सुख सबको पहुँचाना है। यह कार्य वीर सन्ततीके बिना नहीं हो सकता। इसलिये वीरपुत्र एवं वीरपुत्री आवश्यक है। बुद्धके समान जो लोग इस विश्वको बन्धन मानते हैं तथा जो स्त्री को पापकी खान समझते हैं वे सुप्रजा निर्माणका आडम्बर किसलिये करेंगे? शरीरको मलमूत्रका गोला माननेके पश्चात् इसमें रहना कौन चाहेगा?

किन्तु ऋषियोंकी दृष्टिसे यह शरीर 'देव' मन्दिर था, यह शरीर सप्तर्षियोंका पवित्र आश्रम था। यहाँ १२५ वर्ष रहकर सब प्रकारका पुरुषार्थ करना है, अतः इसे दीर्घायु बनाना अपेक्षित है तथा यह शरीर जिस राष्ट्रमें रहेगा उस राष्ट्रको भी परम ऐश्वर्ययुक्त करना; एक मुख्य कार्यक्रम है।

ऋषियोंको यह संसार क्षणभङ्गुर प्रतीत नहीं होता था तथा असार भी नहीं लगता था। यहीं पर 'सत्-चित्-आनन्द' का वे अनुभव करते थे। यह विचारधारा लुप्त होगई तथा आज हम निराशावादी विचारधारामें गोते लगा रहे हैं। स्वराज्य प्राप्तिके पश्चात् हमें अपनेमें आशावादी विचार उत्पन्न करने चाहिये। अगले लेखमें इसीका विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

[लेखांक ५]

पृथ्वीपर विचारोंका राज्य

" धियो विश्वा विराजति " ऐसा ऋग्वेदमें कहा है। " Idias rule the World " ऐसा अंग्रेजीमें कहा है। " पृथ्वीपर विचारोंका राज्य है " ऐसा अर्थ हमें यहाँ समझना चाहिये। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः' मनही बन्धमोक्ष-गुलामी अथवा स्वतन्त्रता-का कारण है, यह जो कहा जाता है इसका भी यही अभिप्राय है। अतः हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे कि मन एवं बुद्धि तेजस्वी रहे। एक बार यदि मन तथा बुद्धिमें मलिनता आजाय तो मनुष्यकी उन्नति होना सम्भव नहीं है। मन एवं बुद्धि विचारोंका, कल्पनाओंका, तथा निश्चयका अधिष्ठान है। मनके शुद्ध होनेपर ही मनुष्यकी उन्नति सहस्त्रावधि विघ्नोंको दूर करके भी हो सकती है। विचारोंका इतना अधिक महत्व है। इसलिये हमने यह विवेचन किया कि वैदिक दृष्टिकोण विश्वको देखनेके लिये किस प्रकारका था तथा बुद्धका दृष्टिकोण किस प्रकारका था। इस विवेचनसे यह बात भलि भांति ध्यानमें आजाती है कि बुद्धने हमारी विचारधारापर ही कुठाराघात किया है तथा वह अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ है।

यहाँ ' बुद्ध ' का अर्थ केवल गौतम बुद्ध ही न समझना चाहिये। ' बुद्ध ' शब्द निराशावादी विचारोंका प्रतीक है और यही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। अनेक निराशावादी पन्थोंका नामोल्लेख करनेकी अपेक्षा उन सबका समावेश ' बुद्ध ' इस एक शब्दमें कर दिया गया है।

विश्वकी ओर आनन्दमय दृष्टिसे देखनेवाले ' आर्य ' तथा विश्वकी ओर दुःखमय दृष्टिसे देखनेवाले ' बौद्ध ' यही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। बुद्धके पश्चात्की विचार-धारा इसी प्रकारकी निराशावादी विचारधारा है और वह इतनी गहरी पैठ गई है कि थोडेसे प्रयत्न द्वारा उसका उन्मूलन होना सम्भव नहीं है। मैं, मैं, कहनेवाले आधुनिक पुरुषार्थवादी भी अन्तःकरणके अन्तरिम भागमें बौद्ध ही होते हैं! इस विषयमें एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है, जिससे कि पाठक भलिभांति समझ सकेंगे।

सन्तोंमें बौद्ध-विचार

समस्त महाराष्ट्रीय अथवा भारतीय सन्तोंमें समर्थ रामदास स्वामी विचारोंकी दृष्टिसे देखनेपर उच्च वैदिकधर्मी थे। *यह बात उनकी उपासनामें धनुर्धारी राम एवं भक्त* हनुमानके उल्लेखसे स्पष्ट प्रतीत होती है। राम वैदिक आदर्शका प्रतिनिधि पुरुष था। उन्हें निष्क्रिय देवता अपेक्षित न था, अपितु ३३ कोटि देवताओंको रावणके कारावाससे मुक्त कराकर अयोध्यामें स्वर्गधाम निर्माण करानेवाला, युद्धके लिये सदैव तत्पर रहनेवाला धनुर्धारी वैदिक आदर्श पुरुष राम अपेक्षित था।

ऐसे समर्थ रामदास स्वामीको भी गर्भवास दुःखदायी प्रतीत होता था। ' दासबोध ' नामक अपने ग्रन्थमें इन्होंने गर्भवासका जो वर्णन किया है वह अशास्त्रीय तथा असत्य तो है ही, किन्तु उबकाइट लानेवाला एवं वैदिक विचारधारासे भी बहुत भिन्न और बौद्ध विचारोंके अति समीपका है। ' बालकके नाक मुंहमें कीटाणु जाते हैं, गर्भाशयमें वह विष्ठा एवं मूत्रमें सडता रहता है ' यह वर्णन अनुपयुक्त एवं अयथार्थ है।

गर्भाशयकी व्यवस्था कितनी उत्तम रहती है, यह बात सभीको जाननेकी आवश्यकता है। परमेश्वरका अमृतपुत्र जहाँ रहेगा वहाँ कीडे और विष्ठादि कैसे पहुँच पायेंगे? अन्नका विशुद्ध रसही वहाँ पहुँच सके इसप्रकारकी अपूर्व योजना वहाँ रहती है। यदि माताको धक्का लग जाय तब भी बालक सुरक्षित रह सके, ऐसी उत्तम व्यवस्था वहाँ रहती है। जहाँ परमेश्वरका अंश नौ महीनेतक ३३ देवताओंके साथ रहेगा वहाँकी उसकी पवित्रताका भला कौन वर्णन कर सकता है? वह कैसे वहाँ मलमूत्रमें सड सकता है? किन्तु संतजन इसीका कितना दोषपूर्ण एवं निन्दित वर्णन करते हैं। निःसंशय यह विचारधारा बुद्धकी है।

जबकि समर्थ रामदास स्वामीके ग्रन्थोंमें इन विचारोंको स्थान मिलता है तो अन्य सन्तोंके विषयमें कहना ही क्या? इससे यह ज्ञात होजाता है कि सारे सन्त अंशतः बुद्ध

विचारोंसे आक्रान्त थे। अथवा वे इन विचारोंका परित्याग करनेमें असमर्थ थे। इन विचारोंका समाजके अन्दर इस प्रकार सन्निवेश होचुका था कि दूर रहना सन्तोंके लिये सम्भव न था।

इससे विदित हो सकता है कि बुद्धके विचारोंका प्रभाव कहाँतक है तथा 'विचारोंका राज्य' यानि क्या है और उसकी व्यापकता कितनी रहती है।

विचारोंका यह संमिश्रण हमें आज भी प्रसित किये हुए है। वह दूर हुए बिना हमारा उद्धार सम्भव नहीं दीखता। भारतीय सभ्यता जगत्का उद्धार करेगी, यह सत्य है; किन्तु वह सभ्यता बुद्ध विचारोंमें लिपटी सभ्यता नहीं है क्योंकि यह सभ्यता तो कदाचित् भारतको पुनः रसातलमें जा ढकेले। इसलिये आज हमें अत्यन्त सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

सन्तोंका आन्दोलन

बहुतसे लोगोंकी यह समझ है कि इन सन्तोंने महाराष्ट्रकी स्वतन्त्रता प्राप्त्यर्थ सहायता की। सन्तोंने अपनी समझके अनुरूप ३०० वर्षोंमें जो किया जा सकता था वह किया। महाराष्ट्र जैसे वीर प्रान्तको जागृत करनेके लिये क्या ३०० वर्षोंकी अपेक्षा है? राष्ट्रीय आन्दोलन तो उसे ही कहा जावेगा। जो पांच पचास वर्षोंमें सफल हो जाय जिसके लिये तीन सौ वर्ष लग जांय वह कैसा राष्ट्रीय आन्दोलन!

महाराष्ट्र वीरोंका प्रदेश है। वहाँका कोई भी आन्दोलन ८-१० वर्षोंमें ही सफल होजाना चाहिये था। उसके लिये ३०० वर्षों तक झांझ बजाकर जागृत करनेका जो प्रयत्न असफल हुआ उसके पीछे एक विशेष कारण है। सभी सन्तोंकी यह मान्यता थी कि 'संसार दुःखमय है' अतः ऐसे इस संसारका शासन हिन्दु करें या मुसलमान एक जैसा ही है। यही भावना जनतामें भी काम करती रही। इस प्रकारके विचारोंमें भला किस प्रकारसे क्रान्ति सम्भव है? इस बौद्ध-विचार धाराके कारण ही महाराष्ट्रके सन्तोंको तीन शताब्दियोंतक भी कोई सफलता न मिली।

विचारधारा ही यदि शुद्ध न हो तो सत् प्रयत्न भी इस प्रकार मिट्टीमें मिल जाते हैं। पाठकोंको इस विषयमें ध्यान रखना चाहिये तथा अपने विचारोंको शुद्ध रखनेका यत्न करना चाहिये।

विश्वरूप परमेश्वर *

जिस भारतीय आर्यसंस्कृतिका हम विचार कर रहे हैं तथा जिसके साथ अन्य विचारधाराओंकी तुलना हम कर रहे हैं, उनमें मुख्य आधार भूत विचार यह है कि यह विश्व परमेश्वरका रूप है। 'एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च' सर्व भूतान्तरात्मा प्रत्येक रूपमें तद्रूप होकर स्थित है तथा वह उस रूपके बाहर भी है। यह सब भूतान्तरात्मा एक है और यही हमारा आदर्श है। सर्व भूतान्तरात्मा सबका एक है; अतएव आध्यात्मिक दृष्टिसे सबकी एकात्मता है। वह मौलिक आध्यात्मिक एकता, संघकी एकता,-प्रत्यक्षरूपमें व्यवहारमें लानी है।

बुद्धने प्रत्येकका जीवात्मा भिन्न मानकर आध्यात्मिक एकात्मकताके मूलपर ही कुठाराघात किया है। साथ ही, मैं केवल अपना ही हूँ, कोई किसीका नहीं है, यह सिद्धान्त प्रतिपादित करके 'प्रत्येक व्यक्ति बिलकुल भिन्न है' यह बात स्थिर की और संगठनका आध्यात्मिक आधार ही विनष्ट कर दिया!! जीव अकेला उत्पन्न होता है, अकेला मरता है, सब अपने हो कर्मोंसे बांधे जाते हैं, परस्पर किसीका सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार एकात्मकताके स्थानपर अनेकात्मकता-द्वन्द्वपार्थक्यभाव निर्माण किया!!! इस प्रकारके भाव जहाँ बढेंगे वहाँ संगठन शक्तिका निर्माण होना सम्भव ही नहीं है, यह स्पष्ट है।

वैदिकधर्मियोंके सन्मुख विश्वरूप ईश्वर सर्वदा खड़ा रहता था। इस प्रकार ईश्वरके सामने मैं खड़ा हूँ तथा मैं इस ईश्वरके अन्दर हूँ। ऊपर, नीचे, आगे, पीछे, अन्दर, बाहर वह ईश्वर है। वह सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है। उसके सन्मुख कोई भी लुक छिपकर किसी प्रकारका कुकर्म नहीं कर सकता, ऐसा उनका विश्वास था। सूर्य व चन्द्र उसके पहरेदार या नेत्र हैं। अन्य देव भी उसीके अंग हैं। इन्हींमें मैं भी हूँ। यह अनन्य भावना वैदिक आर्योंके जीवनमें थी। इस प्रत्यक्ष ईश्वरकी वे प्रत्यक्ष सेवा किया करते थे। कहीं भी जानेपर विश्वरूपी ईश्वर उनके चारों

ओर विद्यमान रहता ही है, ऐसा उन्हें दिखाई देता था। जिन्हे ऐसा दिखाई देता हो उनके द्वारा जानबूझकर कुकर्म नहीं हो सकता। यही कारण था कि सम्यग्तया अनुशासन-बद्ध आचरण दक्षता पूर्वक रखा करते थे एवं सतत प्रगति भी करते थे।

इस विश्वरूप ईश्वरके आदर्शका परिणाम उनके जीवन में किस प्रकार उतरा था, यह बात अगले लेखोंमें हम उपस्थित करेंगे ही। किन्तु यहाँ अभी यह दिखाना है कि बुद्धने ईश्वरका परित्याग करके हमारे समाजमें अराजकता निर्माण कर दी। इस सृष्टिका नियामक कोई नहीं है। भिन्न भिन्न जीव अपनी उन्नति अथवा अवनति कर लेते हैं तथा कभी न कभी वे निर्वाणतक पहुँच ही जायगे।

' ईश्वर ' निर्दोष, समर्थ, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमानके आदर्श रूपमें वैदिक आर्योंके सामने समुपस्थित था। उसे हटाकर बुद्धने अराजकताकी अव्यवस्था सबके सन्मुख की !!

यहाँ कोई यह कहे कि ' ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण क्या है ' तो उसका उत्तर अभी देनेकी आवश्यकता नहीं है। वैदिक ऋषियोंने ईश्वरका साक्षात्कार किया हो या न हो अथवा ईश्वर सचमुच हो या न हो, ईश्वरके जिस रूपका उन्होने प्रतिपादन किया है वह काल्पनिक हो अथवा सत्य हो, उसे यदि आदर्श मान लिया जाय तो वह हमारा मार्ग-दर्शन कर सकता है या नहीं ? केवल इसी प्रश्नको लेकर पाठक यहाँ विचार करें तथा हम भी इसी बातको सामने रखकर विचार करेंगे।

ईश्वर आदर्श पुरुष है

ईश्वर समर्थ, सर्वज्ञ, सर्व नियामक, न्यायकारी, दुष्टोंको मारनेवाला, सज्जनोंका तारक, सबका मार्गदर्शक तथा इस विश्वका स्वामी है। नरका नारायण बनना है, वह हो जानेपर प्रत्येक नर इन ईश्वरीय गुणोंसे युक्त हो जायेगा। यहाँ ईश्वरको हमने अपना आदर्श माना है। जैसा ईश्वर है वैसा ही मैं भी होऊँगा, अर्थात् मैं भी समर्थ, ज्ञानी, नियामक, न्याय व्यवहार करनेवाला, दुष्टोंको दण्ड देने-वाला, सज्जनोंका सहायक तथा मार्गदर्शक होऊँगा। यह इस प्रकारका उन्नतिका कार्यक्रम वैदिक आर्योंके सम्मुख था। ईश्वरके होने या न होनेपर भी जो विश्वासपूर्वक ऐसे ईश्वरको मानेंगे तथा वैसा स्वयंको बनानेमें प्रयत्नशील होंगे उनकी उन्नतिका कार्यक्रम निश्चित हुआ सा समझना चाहिये। देखनेवालोंको यह स्पष्ट दिखाई देगा।

वैदिक ऋषियोंका ईश्वर विश्वरूप है। इसके अस्तित्वके विषयमें उन्हे संशय था ही नहीं। तथापि क्षणभरके लिये इसे यदि कविकी कल्पना ही मान लें तब भी उस कवि कल्पना द्वारा जो आदर्श मनुष्योंके सामने रखा गया वह श्रेष्ठ ही था यह निःसन्देह है। काल्पनिक आदर्श भी यदि प्रभावशाली हुआ तो उसे माननेवालों पर प्रभाव पड़ता ही है।

इस आदर्शको बुद्धने समूल उखाड फेंका। विश्वको अराजक बना दिया। बुद्धने समूल ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि राष्ट्रमें संगठनका सामर्थ्य ही शेष न रहे और जनता आदर्श रहित होकर सदैव बिखरी सी रहे। इस अवस्थाकी सम्पूर्ण दायित्व बुद्धपर है। यही कारण है कि बौद्ध धर्मकी छायामें आ जानेपर कोई भी देश समुन्नत न हो सका। अशोकने जिस जिस देशमें बुद्ध धर्मका प्रसार किया वे सभी देश अवनत ही होते चले गये।

अनेक धर्मोंकी तुलना

ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकारनेवालोंमें– वैदिक धर्मी आर्य, पारसी, यहूदी, ईसाई तथा मुसलमान हैं। हिन्दुओंका अन्तर्भाव वैदिक धर्मी आर्योंमें हो जाता है, अतः उनका पृथक् उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है। पारसी धर्म तथा वैदिक धर्म मिलते जुलतेसे धर्म हैं तथा यहूदी इस जगत्में बहुत ही थोडे हैं। अतः वैदिक-ईसाई-मुसलमानमें ही देवता विषयक कल्पनापर हम विचार करेंगे जिससे कि सम्यक्तया तुलनात्मक विश्लेषण हो सके।

ईसाई तथा मुसलमानपंथ ईश्वरको तीसरे अथवा पाँचवें आकाशमें स्थित मानते हैं। वह पृथ्वीपर नहीं आता। आकाशमें रहकर वह अपने प्रतिनिधि द्वारा पृथ्वीके मानवोंका न्याय कराता है। ' वह आकाशके तीसरे मंजिलपर रहता है तथा कभी भी नीचे नहीं आता ' इस प्रकारकी उनकी मान्यता होनेके कारण बीचके प्रतिनिधिका महत्व उनके यहाँ विशेष बढ गया है ! यह ईश्वर मनुष्यके आचार व्यवहार समझनेमें असमर्थ रहता है। उसका प्रति-निधि जिसकी सिफारिस करेगा उसका उद्धार होगा, शेष सज्जन होनेपर भी दावाग्निमें जलते ही रहेंगे, यही न्याय है !

देवताकी कढाई

यह मुसलमानी बादशाहोंका नमूना है। मानवी उन्नति-के लिये एतादृश कल्पनायें साधक नहीं होसकता। मुसल-

मानी पंथने एक और कल्पना की है, वह इस प्रकार है- ' देवताकी कढाई देवताके पास चूल्हेपर उकलती रहती है ' उसमेंसे अपनी कडछी (पली) द्वारा वह जीवके सिरमें थोडा थोडा दैवका रस डालता रहता है। यह रस कभी किसीके हिस्सेमें अधिक आ जाता है तो कभी कम। एकको कम तथा दूसरेको अधिक क्यों ? यह प्रश्न ईश्वरसे कोई कैसे पूछ सकता है ? यह ' किसतकी कडछी ' ईश्वरके पास है। मुसलमान बादशाहोंका आचरण देखकर किसीने यह कल्पना कर ली होगी, ऐसा प्रतीत होता है। इसमें तत्वज्ञानका तो अंश भी नहीं है। यदि सचमुच ईश्वर ऐसा करता होगा तो वह अन्याय ही होगा। किन्तु मुसलमान तथा ईसाई धर्मका ईश्वर सचमुच ऐसा ही है। उनका यह ईश्वर उन्हींको शोभा देता है। जहाँ उनका ईश्वर ही इस प्रकार अन्याय करता हो वहाँ उनके अनुयायी यदि पृथ्वीपर अन्याय करें तो इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है ?

वैदिक ईश्वर पक्षपातरहित है

वैदिक धर्मियोंका ईश्वर तो (यथा कर्म तथा श्रुतं) जिसका जैसा ज्ञान तथा जिसका जैसा कर्म होगा उसे ठीक वैसा ही फल देता है। वह उसमें किंचिन्मात्र भी अल्पाधिक नहीं करता। यह ईश्वर इतना अधिक पक्षपात शून्य है। पक्षपात रहित होनेका आदर्श विश्वके सन्मुख रखनेवाले वैदिकधर्मी ही हैं।

इतनाही नहीं अपितु वैदिकधर्मी साधक स्वयंको परमेश्वरका ' अमृत पुत्र ' समझते हैं तथा परमेश्वरके साथ माता-पिता, गुरु, बन्धु, एवं मित्रका सा व्यवहार करते हैं। (स माता स पिता स बन्धुः) जितने समीपके सम्बन्धसे पुत्र माता-पिताकी गोदमें बैठकर आत्मीयता व्यक्त कर सकता है, उतनी आत्मीयतासे वैदिक आर्य ईश्वरसे सम्बन्ध जोड सकता है।

मुसलमान तथा ईसाइयोंके लिये ऐसा करना सम्भव नहीं है। ईश्वरके प्रतिनिधिका उनके पास प्रशस्तिपत्र यदि न हुआ तो सत्पुरुष भी नरकाग्निमें जलता रहेगा, ऐसा उनका मत है !! किन्तु वैदिकधर्मी आर्य परमेश्वरके सम्मुख खडा रहकर ईश्वरसे कहेगा कि-मैंने कोई बुरा काम नहीं किया है, फिर मुझे यह दण्ड किसलिये ? ईश्वर समर्थ होनेपर भी यदि हमसे कोई कुकर्म न हुआ होगा तो हमारा अहित नहीं कर सकता, यह विश्वास यहाँ पर है। ' दैवकी कडछी ' मुसलमानोंके समान यहाँ पर नहीं है। अपने वैयक्तिक तथा सामुदायिक कर्मोंके अनुसार हमारी उन्नति अथवा अवनति होगी, इस निश्चित धारणाके कारण मीमांसकोंने तो ईश्वरका विचार तक नहीं किया। इतनी बौद्धिक स्वतन्त्रता वैदिक आर्योंमें दिखाई देती है। ' खुदाकी मर्जी ' जैसे शब्द यहाँ दिखाई नहीं देंगे।

जिस प्रकार ईश्वर आनन्द स्वरूप है, सामर्थ्यवान है, नियन्ता है, पालक-पोषक-रक्षक है, न्यायी है वैसा ही मैं बनूंगा। मैं आज जीव-स्थितिमें होनेपर भी ब्राह्मी-स्थिति- प्राप्त करूंगा, यह सुदृढ विश्वास तथा यह अन्तिम ध्येय विषयक दृढ निश्चय वैदिक धर्मी आर्योंमें दिखाई देता है। यहाँ प्रतिनिधिके सिफारसपत्रकी आवश्यकता नहीं है। (यथा कर्म तथा श्रुतं) जैसा कर्म करोगे तथा जैसा ज्ञान होगा वैसी उसकी प्रगति होना यहाँ सम्भव है।

ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हुई, नरका नारायण हुआ, जीवका शिव, तथा बुद्धका मुक्त होनेपर इसमें ईश्वरके गुण दिखाई देने लगते हैं तथा वे प्रभावशाली हुए हुए दिखाई देने लगते हैं। यह कितना बडा आत्मविश्वास है !! ' अमृतपुत्र ' सिद्ध होनेपर जीव ' अमर पिता ' अवश्य ही होगा, यह कितना दृढ विश्वास है ? परमेश्वर होनेका अर्थ ईश्वरके, परब्रह्मके, परमात्माके सम्पूर्ण गुण दिखाई देना है। परमेश्वरके इन गुणोंका वर्णन हमारे वेद शास्त्रादि ग्रन्थोंमें अनेक प्रकारसे वर्णन किये गये हैं। यह साधक इन गुणोंको आज भी पढता और देखता है तथा यह समझ लेता है कि मुझे इस उच्च स्थिति तक पहुँचना है।

मुसलमान व ईसाई जैसे ईश्वर माननेवालोंको एवं जैन- बौद्धोंके समान ईश्वरके अस्तित्वको न मानने वालोंको इस प्रकारका प्रचण्ड आत्म विश्वास प्राप्त होना असम्भव ही नहीं है।

भारतीय संस्कृतिके आधारस्थानमें यह इस प्रकारका आत्मविश्वास है। इनका यह ईश्वर जीवके लिये वैयक्तिक सामुदायिक, राष्ट्रीय एवं राष्ट्रान्तरीय कर्तव्योंके लिये आदर्श बन सकता है। यह किस प्रकार आदर्श है ? इसका विचार अगले लेखमें किया जायगा।

अनुवादक- महेशचन्द्रशास्त्री, विद्याभास्कर, साहित्यरत्न,

राजयोगके मूलतत्त्व और उनका अभ्यास

[प्रकरण ८ वाँ]

लेखक— श्री. राजाराम सखाराम भागवत, एम्. ए.
अनुवादक— श्री. महेशचन्द्रशास्त्री, विद्याभास्कर, साहित्यरत्न

(गताङ्कसे आगे)

'सूक्ष्म दृष्टि'

उपर्युक्त विवरणसे पाठक यह जान सकते हैं कि यह शब्द एक विशेष इन्द्रियशक्तिके लिये प्रयुक्त नहीं हुआ है, उसमें अनेक बातोंका समावेश हो जाता है तथा वह भिन्न भिन्न भूमिकाओंपर काम करता है। इस सूक्ष्म दृष्टिकी सिद्धि प्राप्त एक मनुष्यको केवल भुवर्लोक दिखाई देगा; किन्तु पूर्वजन्मकी बातें वह नहीं कह सकेगा। दूसरेको श्रेष्ठ-स्वर्ग दिखाई देगा और अपने पूर्वजन्मोंकी स्मृति भी होगी। मनुष्य-मनुष्यमें ऐसे श्रेष्ठ कनिष्ठताके अनेक भेद हो सकते हैं। इसी प्रकार एक मनुष्य किसी एक शाखाका विशेष अभ्यास करता है और दूसरा उसका अभ्यास नहीं कर पाता, इसलिये फरक हो सकता है। भूलोकमें दो मनुष्य अपनी कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सारे उद्योग करनेका सामर्थ्य रखते हुए भी एक मनुष्य तैर सकता है, साइकल या घोड़ेपर बैठ सकता है अथवा कोई खेत आँखोंसे केवलमात्र देखकर उसकी लम्बाई, चौड़ाई, क्षेत्रफल आदि ठीक ठीक बता सकता है, तथा दूसरा यदि कुछ न कर सका तो भी वह टंकलेखन (या टाइप रायटिङ्ग) अथवा लघुलेखन (Short hand) कर सकता है, बाजेकी पेटी बजा सकता है रसिकताके साथ साहित्यका आनन्द लूट सकता है। यही न्याय भुवर्लोकके लिये भी लागू है। भिन्न भिन्न शाखाओंका विशेष अभ्यास करनेके कारण भुवर्लोककी चाहे सम्पूर्ण इन्द्रियाँ कार्यक्षम हुई तब भी एक मनुष्य एक बात कर सकता है, दूसरा उसे करनेमें असमर्थ रहता है। अतः भुवर्लोकमें कार्य करनेकी सिद्धि यद्यपि दोनों व्यक्तियोंको प्राप्त रहती है तथापि वे दोनों सबकुछ कर ही सकते हैं, ऐसी बात नहीं है। इन क्रियाओंकी स्मृति मस्तिष्कमें उतरनेपर समझना चाहिये कि एक नवीन 'दृष्टि' प्राप्त हो गई है। 'मैं उस दृष्टिसे देख सकता हूँ' ऐसा एकको अनुभव होता है। तथा दूसरा समझता है कि 'मैं देख नहीं सकता तो सुन सकता हूँ।' ऐसा मनुष्य इस शक्तिको 'सूक्ष्म दृष्टि' यह नाम न देकर 'सूक्ष्म-श्रवण' या clairaudience कहेगा। भूलोकमें आँख, कान, जीभ आदि बिल्कुल भिन्न इन्द्रियाँ हैं। भुवर्लोकमें उतनी भिन्नता नहीं है तथा स्वर्लोकमें वे एकीकृत सी रहती हैं। ×

पातञ्जल सूत्रोंमें सिद्धियोंकी जो विवेचना की है वह प्राचीन पद्धतिकी है। आधुनिक सुशिक्षित व्यक्तियोंको मौतिक शास्त्रका सुव्यवस्थित ज्ञान होनेकी आदत हो जानेके कारण वे पतञ्जलिकी प्रणाली ठीक ठीक नहीं समझ सकते और उन्हें वह रुचिकर भी न लगेगी। साथ ही एक ही सिद्धान्त (मुद्दा) से संलग्न बात एकत्र ही न देकर पतञ्जलिने उनको अव्यवस्थित रूपसे अपने सूत्र ग्रन्थोंमें इतस्ततः बिखेर रक्खा है, ऐसा वे समझने लगेंगे। वर्णन-प्रणालियोंमें विभिन्नता होनेके कारण ऐसा होता है। इसी प्रकार 'ये सिद्धियाँ किस प्रकार प्राप्त करनी चाहिये' यह बतलाते हुए उन्होंने अत्यन्त संक्षेपमें कह दिया है कि वे संयम या मनकी एकाग्रतासे प्राप्त करनी चाहिये। जानबूझकर उन्होंने उसका विस्तार पूर्वक वर्णन नहीं किया है। उदा-

× सूत्र ३, ४७ में पतञ्जलिने इन्द्रियोंके पांच भूमिकाके पांच प्रकार निर्दिष्ट किये हैं। आगे वर्णित हैं।

हरणार्थ ' भुवन ज्ञानम् सूर्ये संयमात् । (३, २६) अर्थात् सूर्यपर मन एकाग्र करनेसे भू, भुवः, स्वः आदि जो भुवन या लोक हैं, उनका ज्ञान हो जाता है और ' अस्तेय प्रतिष्ठायाम् सर्व रत्नोपस्थानम् । (२, ३७) अर्थात् चोरी न करना, यह गुण अन्तरङ्गमें प्रविष्ट हो जाय तो सब प्रकारका वैभव प्राप्त हो जाता है, ऐसा वे कहते हैं । तेज बुद्धिके मनुष्यको ये विधान सच्चे मालूम नहीं होंगे । सचमुचमें ये विधान असत्य नहीं हैं किन्तु वे इतने संदिग्ध हैं कि उनका वास्तविक अभिप्राय एकदम मनुष्यके ध्यानमें आने जैसा है ही नहीं । पुस्तकें पढनेसे मनुष्य आय. सी. एस. परीक्षा पास कर लेता है या एक दूसरेसे संलग्न चौकटोंके समूहपर मन एकाग्र करके मनुष्य शतरंजकी ख्यातीसे मात करनेमें समर्थ हो जाता है, इन विधानोंके समान वे सूत्र हैं । मैं पुस्तकें पढूँगा तो आइ. सी. एस. परीक्षामें उत्तीर्ण हो ही जाऊँगा ऐसा किसी युवकको भान हो सकता है अथवा रंगीन साडी खरीद लेनेसे शतरंजका खेल आ ही जायेगा, ऐसी कल्पना कोई तरुणी करे तो उनकी गणना पागलोंमें होगी । सूत्रोंके इस प्रकारके संदिग्धपनेके कारण बहुतसे लोग चाहे जैसी कल्पनायें मनमें करने लगते हैं और स्वयंको गलत फहमी कर बैठते हैं । सूर्य यदि अपनी सूर्य मालाका मध्य केन्द्र है तो उसका अपने सूर्यमालान्तर्गत सम्पूर्ण ज्ञानसे कुछ निकट सम्बन्ध होना चाहिये । सृष्टिमें यदि कोई सुबुद्ध योजना होगी, उसके पीछे यदि कुछ ज्ञान गर्भ चित् शक्ति होगी तो सम्पूर्ण अस्तेय वृत्ति तथा निर्लोभताकी पराकाष्ठा जिसने प्राप्त कर ली होगी उसे उसके योगक्षेमके सम्पूर्ण साधन प्राप्त होनेकी सृष्टिमें कुछ न कुछ व्यवस्था अवश्य होनी चाहिये । जो कार्य वह अंगीकार करेगा उसके साधन उसे पर्याप्त प्रमाणमें सृष्टि देती होगी यह स्पष्ट है । ये बातें उपर्युक्त सूत्रोंके मूलमें हैं । किन्तु स्पष्टतः वर्णन न होनेके कारण वे बुद्धिके लिये विचित्रसे प्रतीत होती हैं ।

मनुष्य भिन्न भिन्न शरीरोंसे भुवर्लोक, स्वर्गलोकमें सरलतासे घूमफिर सकता है, इस सिद्धिका निर्देश पतञ्जलिने एक सूत्रमें किया + है । उस सूत्रका अर्थ यह है कि शरीर और आकाशके सम्बन्धपर यदि मन एकाग्र किया जाय, छोटे और हलके पदार्थके समान यदि चित्त बना ले तो योगी अन्तरालमें घूम सकता है । इसी प्रकार एक और × सूत्रमें कहा है कि इन्द्रिय जय हो जानेसे मनुष्यको

+ कायाकाशयोः संबंध संयमात् लघुतूलसमापत्तेः च आकाशगमनम् (३, ४२)

× ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयः च । (३, ४८) दूर जाकर दूरीकी बातें देखनेके विषयमें बॅरेट् कृत Psychical Research पृ. १५२ पर प्रो० रिशेका अनुभव देखिये । प्रो० रिशे कहते हैं--

मैंने लिओनी नामक एक स्त्रीको मेस्मेरिक निद्रामें सुला दिया तथा कुछ दूरीपर स्थित मेरी रसायनशालाके, मेरे हाथ नीचे काम करनेवाले Langlois नामके व्यक्ति क्या कर रहे हैं ? ऐसा उससे पूछा । उसने कहा- ' उसका शरीरका एक भाग जल गया है, बांया हाथ जल गया है । वह आगसे नहीं जला है । जिस पदार्थसे जला है उसका नाम मुझे मालूम नहीं है । वह पदार्थ पीलेसे रंगका है । शीशीमें उंडेलते हुए वह हाथपर गिर गया है और एकदम वहाँपर फोडे आगये हैं ! उसका यह वर्णन ठीक था । वे ब्रोमीन शीशीमें उंडेल रहे थे । दाहिने हाथसे उन्होंने झब्बा पकड रक्खा था । उस झब्बेके ऊपरसे हाथपर ब्रोमीनकी धार ढुलक गई । तुरत उन्होंने पानीमें हाथ डुबा दिया, किन्तु तत्काल वहाँ फफोले आगये ।

अनेक ग्रन्थोंमें ऐसे उदाहरण मिलेंगे । मेस्मेरिक निद्रामें पडे हुए एक व्यक्तिने कई मील दूरीपर जलते हुए एक घरकी सूचना दी, जो सचमुच ही जल रहा था । इसका उदाहरण रीशेकृत Our Sixth Sense इस पुस्तकमें पृ०७७ पर है । इसमें दूरीपर दृश्य होनेके अन्य अनेक उदाहरण भी हैं ।

एक मनुष्य रातमें एक स्थानपर सो जाय, सोनेसे पूर्व मैं नींदमें रहते हुए अमुक अमुक स्थानपर जाऊँगा और दिखाई दूँगा, ऐसा निश्चय करे और उस रातमें उस स्थानके लोगोंको (पहले कोई कल्पना न होनेपर भी) वह यहाँ आया था इसकी प्रतीति हो । इस प्रकारके उदाहरण शास्त्रज्ञोंने प्राप्त किये हैं । उनकी जानकारी ' मरणोत्तर स्थिति व परलोक विद्या ' नामक प्रस्तुत ग्रन्थकारकी पुस्तकके प्रकरण २ में पाठकोंको मिलेगी ।

मनकी तरह गति प्राप्त हो जाती है, इन्द्रियोंके बिना वह कार्यक्षम हो सकता है तथा सृष्टिके द्रव्योंपर उसकी हुकूमत चलती है। अर्थात् वासना शरीर मनःशरीरकी सहायतासे मानव-मन दौडता है; उसी वेगसे चारों ओर प्रवास कर सकता है। उस स्थितिमें आँख, कान, हाथ, पैर इन इन्द्रियोंके बिना वह कार्य करता है और सृष्टिके द्रव्य (प्रकृति) उसके आधीन हो जाते हैं। यह व्यवहार करते हुए पानी, कीचड, काटें आदिमें वह रुकता नहीं, उनमेंसे ऊपर उठता है। ऐसा भी एक सूत्रमें वर्णित है। वासनाशरीर, मनः शरीर ये हवाकी अपेक्षा भी अधिक विरल बने हुए रहते हैं, वे पानीमें घुटकर समाप्त नहीं हो जाते, कीचडमें फंसते नहीं अथवा कांटोंमें अटकते नहीं। वे इन रुकावटोंमेंसे सरलता पूर्वक आरपार हो जाँय यह स्वाभाविक है। ऐसा व्यवहार करते हुए स्वर्गके स्पर्श, रूप, गंध आदिका भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। (३, ३६) और वहाँके शब्द सुननेका सामर्थ्य मनुष्य प्राप्त कर लेता है। (३, ४१) प्रत्येक भूमिकापर प्रत्येक शरीरको ज्ञान प्राप्त करनेके तथा अन्य व्यवहार करनेके जो साधन हुआ करते हैं वे ही उनकी वहाँकी इन्द्रियाँ हैं। उनके 'ग्रहण' 'स्वरूप' 'अस्मिता' 'अन्वय' तथा 'अर्थवत्व' ये पांच भूमिकाश्रित पांच प्रकार पतञ्जलिने बताये हैं। (३, ४७) भुवर्लोक एवं स्वर्लोकमें भावना और विचारके आन्दोलन तथा उनसे होनेवाले भावनाचित्र और विचारचित्र नाचते रहते हैं, यह बात इस पुस्तकमें हम बता चुके हैं। अर्थात् उनका ग्रहण हो सका तो एक मनुष्य दूसरेकी भावना और विचार समझ सकेगा, यह स्पष्ट है। इस सिद्धिका वर्णन **प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्** (३, १९) इस सूत्रमें निर्दिष्ट है। स्वर्लोकमें ज्ञानी पुरुष मिला करते हैं। वह सिद्धि **मूर्धे ज्योतिषि सिद्ध दर्शनम्**। (३, ३२) अर्थात् मस्तिष्कके ऊपरके चक्रपर संयम करनेसे सिद्ध पुरुष मिलते हैं, ऐसा इस सूत्रमें उल्लेख है। जिस प्रकार सिद्ध पुरुष मिल सकते हैं उसी प्रकारसे देवता भी मिलते हैं। उस सम्बन्धसे **स्वाध्यायात् इष्टदेवता संप्रयोगः**। (२, ४४) ऐसा यह सूत्र है। *

कारण शरीरमें चेतना पहुँचानेकी शक्ति आजानेपर मनुष्यको अपने पूर्व जन्मकी स्मृति हो जाती है और सृष्टिका

---

* अगले सूत्र देखिये- **उदानजयात् जल-पंक-कंटकादिषु असंग उत्क्रान्तिः च**। (३।३९) **ततः प्रातिभ-श्रवण-वेदना-आदर्श-आस्वाद-वार्ता जायंते** (३, १६) **श्रोत्राकाशयोः संबन्धः-संयमात् दिव्यम् श्रोत्रम्** (३, ४१)

एक मनुष्यके मनमें क्या है इसका दूसरेको पता लग जानेका नाम 'विचार संक्रमण है। अंग्रेजीमें Thought Transference, Telepathy, Extra Sensory Perception ऐसे नाम हैं। इसका एक उदाहरण होम युनिव्हरसिटी लायब्रेरीमेंके Psychical Research नामक प्रो० बॅरेटकृत पुस्तक पृष्ठ ५३ पर है। उसे सारांशमें यहाँ लिख देते हैं। प्रो० बॅरेट कहते हैं—

रेव्ह. मि. क्रीरीकी एक बारह वर्षकी लडकी थी। उसमें दूसरेके मनका विचार जान लेनेकी शक्ति थी। उस लडकीको पडौसके खाली कमरेमें बिठाया जाता था। प्रो. बॅरेट और दूसरे लोग बैठकमें बैठे रहते थे। लडकी अपने कमरेमें बैठकर बैठकके लोगोंके मनके विचार पहचान लेती थी। उसीके अनुसार घरसे आवश्यक (इच्छित) वस्तुएँ लाकर वह उन लोगोंको दे देती थी। बैठकमें बैठकर एक बार सबने निश्चित किया कि प्रो० बॅरेट किसी वस्तुका नाम कागजपर लिखें और सब लोग मनमें उसका विचार करें। कोई भी बिलकुल न बोले और न बाहर जावे। इसके बाद बालोंका ब्रश, शराबका गिलास, सेब, छुरी, इस्तरी, कप आदि वस्तुओंका नाम बॅरेटने कागदपर लिखा; लडकीने उन सबको जान लिया और वह सब वस्तुएँ बैठकमें ले आई। उसके बाद शहरोंके नाम मनमें सोचे गये। तब लिव्हरपूर, स्टॉकपोर्ट, कॅंकॅस्टर, यार्क, मॅंचेस्टर, मॅक्लेसफील्ड, इन नामोंको बैठकके बंद कमरेके बाहरसे चिल्लाकर बता दिया। इस प्रकारके अनेक शास्त्रज्ञोंके विचारसंक्रमणके प्रयोग सफल हुए हैं। J. B. Rhin कृत The New Frontiers of the mind इस पुस्तकमें अनेक प्रयोग मिलेंगे।

पूर्व इतिहास भी वह जान लेता है ऐसा हम पूर्व ही कह चुके हैं। तत्सम्बन्धि पतञ्जलिके **संस्कार साक्षात् करणात् पूर्व जाति ज्ञानम्** (३, १८) तथा **अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंता संबोधः** (२, ३९) सूत्र हैं। इनमें यह बताया गया है कि मनुष्यको पूर्व जन्मका ज्ञान हो जाता है।

पूर्व जन्मकी स्मृतियोंके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। संत बहिणा बाईका अन्तकाल जब समीप था तब उन्हे पूर्व-जन्मोंकी स्मृति हो चुकी थी। अपने अभंगों (गीतों) में उन्होंने अपने अनेक पूर्व जन्मोंका वर्णन किया है।

दिल्लीके लाला देशबन्धु गुप्त, पण्डित नेकीराम शर्मा तथा मि० ताराचन्द्र माथुरने १९३६ ई० A case of Reincarnation नामक एक छोटीसी पुस्तक प्रकाशित की है। उसमें शान्ति देवी नामक एक नौ वर्षकी लडकीको पूर्वजन्मकी स्मृति है, इस बातका वर्णन दिया हुआ है। यह लडकी कहती थी कि पूर्वजन्ममें मैं मथुरामें थी, मेरे पतिका नाम केदारनाथ चौबे था, मेरे दो सन्तानें थी, मेरा घर चौबे रास्तेपर है, सामने एक बानियेकी दूकान है, इत्यादि बहुतसी जानकारी उसने दी। बादमें उसे मथुरा ले जाया गया। वहाँ उसने स्टेशनपर अपने जेठको पहचान लिया, घरका रास्ता बिल्कुल ठीक ठीक बताया, घरका पहलेका बन्द किया हुआ कुँआ और पैसे गाडनेके कमरेमेंका स्थान भी बता दिया। घरमें श्वसुर थे, उन्हे भी पहिचान लिया। मथुरामें ही उसके पूर्वजन्मका मायका था, वहाँ जाकर अपने माता पिताको पहचान लिया, इत्यादि बहुतसी बातें इस पुस्तकमें है।

ग्वालियरके दीवान पण्डित श्यामसुन्दरलालने पूर्व-जन्मके स्मृतियोंके अनेक उदाहरण संगृहीत किये थे और उनमें उनको प्रत्यक्ष अनुभव भी प्राप्त हुए थे। इन उदाहरणोंको उन्होंने ' Concrete Instances of Reincarnation with Memory of Past Lives इस शीर्षकके अन्तर्गत थियासॉफिस्ट मासिकके १९२५ के जनवरीके अंकमें प्रकाशित कराया है। Ralph Shirley कृत The Problem of Rebirth इस पुस्तकमें भी पूर्व जन्मकी स्मृतियोंके अनेक उदाहरण दिये हैं। *

जैसे पिछले जन्मकी बातोंका पता लग सकता है, उस प्रकार भविष्यकी (अगली) बातोंका ज्ञान भी हो सकता है। किसी ' कारण ' के बो देनेपर कौनसा 'कार्य' उसमेंसे उगेगा, यह पहले समझ लेना असम्भव नहीं है। यह प्रश्न ज्ञानका है। मनुष्यके रक्तमें विषम ज्वरके (टायफाइडके) कीटाणु सूईसे प्रविष्ट कराये जाँय तो ज्वर आनेसे पूर्व तज्ञ मनुष्य उसके भविष्यके विषयमें निश्चित घोषणा कर सकता है। सृष्टिमें बहुतसी बातें कारणरूपसे बो रक्खी हैं। उनका फल ऊपरकी भूमिकाओंके ज्ञानसे समझमें आसकता है। **सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म, तत्संयमात् अपरांत ज्ञानम् अरिष्टेभ्यो वा।** (३, २२) ऐसा भविष्य-ज्ञानके विषयमें पतञ्जलिका यह सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि कर्म सोपक्रम और निरुपक्रम भेदसे दो प्रकारके हैं। जिसका आरम्भ हो चुका है वह सोपक्रम कर्म तथा जिसका आरम्भ नहीं हुआ वह निरुपक्रम कर्म है। उसपर मन एकाग्र करनेसे मनुष्यको अपनी मृत्युका ज्ञान पहलेसे हो सकता है।

उसी प्रकार अरिष्टसे मृत्यु है या नहीं यह भी जाना जा सकता है। **परिणामत्रयसंयमात् अतीतानागत-ज्ञानम्** (३, १६) अर्थात् तीन परिणामोंपर (निरोध परिणाम, समाधि परिणाम और एकाग्रता परिणाम इन तीनोंपर) संयम करनेसे पूर्वकाल और भविष्यकालका

---

* थिऑसॉफिकल सोसायटीके कुछ प्रमुख व्यक्तियोंने राजयोगकी यह सिद्धि प्रयत्नतः सम्पादन की है तथा अनेक व्यक्तियोंके पूर्वजन्मकी बातें खोजकर प्रकाशित की हैं। The Lives of Alcyone और The Soul's Growth through Reincarnation इस पुस्तकमें वे प्रकाशित हुए हैं।

ज्ञान हो जाता है। + भविष्य कालकी बातें आज किस प्रकार कही जा सकती हैं? ये अभी अस्तित्वमें ही नहीं हैं। भूतकालकी बातोंका अस्तित्व समाप्त हो चुका है, वे अवशेष नहीं रही हैं। इन्हें किस तरह बताया जा सकता है? इन प्रश्नोंका उत्तर पतञ्जलिने इस प्रकार दिया है। अतीत-अनागतं स्वरूपतः अस्ति, अध्वभेदात् धर्माणाम् (४, १२) अर्थात् धर्मके मार्ग भिन्न भिन्न होनेके कारण भूत और भविष्य सचमुचमें अस्तित्वमें रहा करते हैं। अर्थात् 'भूत' समाप्त नहीं हुआ, वह यदि दिखाई न देता हो तब भी आज सचमुच अस्तित्वमें है। भविष्य आगे जाकर पैदा होगा, हमें जो यह मालूम होता है कि वह नहीं है, ऐसा यह हमारा ज्ञान मिथ्या है। वह भविष्य भी आज अस्तित्वमें है। जब हम रेलकी यात्रा करते हैं तब जो स्टेशन पीछे निकल जाते हैं वे भूतकाल और आगे आनेवाले स्टेशन भविष्यकाल हैं। ये सारे स्टेशन सर्वदा अस्तित्वमें रहते ही हैं। अगले और पिछले स्टेशनोंके मार्ग भिन्न भिन्न होते हैं। इस उपमासे पतञ्जलीकी भूत भविष्यकी उपपत्तिकी कल्पना पाठकोंको आसकती है।

घन पदार्थोंके आरपार देखनेकी एक सिद्धि है। यह प्रायः प्राणमय कोषपर अवलम्बित है। उस सिद्धिका उदाहरण यह है कि उस मनुष्यको अपने शरीरकी हड्डियाँ, फुफ्फुस, हृदय आदि अन्दरके भाग दिखाई देते हैं। नाभिचक्रे कायव्यूह ज्ञानम् (३, २९) इस सूत्रमें नाभिचक्रपर ध्यान करनेसे शरीरके अन्तर्भाग दिखाई देने लगते हैं, ऐसा जो वर्णन है वह इसी सिद्धिका वर्णन है। ×

+ सत्य प्रतिष्ठायाम् क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ (२, ३६) इस सूत्रपर भाष्य करते हुए व्यास लिखते हैं कि योगीकी वाणी अमोघ रहती है तथा वह जो कुछ कहता है वह सब होजाता है। आगे क्या होगा यह मालूम रहनेके कारण वाणी सहज ही अमोघ हो जाती है। भविष्य-ज्ञान होनेके उदाहरणोंका उल्लेख हॅरी प्राइस कृत Fifty years of Psychical Research पुस्तकमें है। जीन कॅप्लास नामक स्त्रीको अदृश्य बातें समझनेकी सिद्धि प्राप्त थी। उसकी सचाई जाननेके लिये हॅरी प्राइस और डॉ. ऑस्टी ये उसके पास गये। प्राइसकी जेबमें मित्रोंके (बंद किये हुए) पत्र थे। उनमेंसे बिना विचार किये यों ही एक पत्र निकालकर उस स्त्रीके हाथमें दिया। उसे हाथमें रखकर वह बताने लगी। वह पत्र सुप्रसिद्ध जन्तुशास्त्रज्ञ R. J. Tilyard F. R. S. का था। अर्थात् उस स्त्रीका इससे कोई परिचय था ही नहीं। उसने इस शास्त्रज्ञके विषयमें लगभग ५३ बातें झटपट बता दीं। उनमेंसे ४२ बातें ठीक निकलीं। उसने उस समय एक बात बताई कि इस पत्रका लेखक रेल्वे या मोटरकी दुर्घटनासे मरेगा। वह वार्तालाप १८२८ में हुआ। बादमें १९३७ ई. में टिल्यार्ड साहब ऑस्ट्रेलियामें मोटर-दुर्घटनामें आकर मर गये। दूसरा एक और उदाहरण उसी पुस्तकमें (पृ. १२१) इस प्रकार है। स्टेला सी नामकी एक स्त्री बेहोश होकर उसी अवस्थामें बोला करती थी। ता. १२-४-२३ को बेहोशीमें वह बोली कि मुझे अपनी आंखोंके सामने डेलीमेल पत्रका १९-५-२३ तारिखका (अर्थात् सवा महिने बादका) अंक दिखाई दे रहा है। उसके ऊपरके पृष्ठपर अॅंड्यू सॉल्टका सचित्र विज्ञापन है। उस चित्रमें एक लडका नीचे गिर रहा है, डिब्बेमेंसे वह सफेद पुडी खींच रहा है, उस लडकेके ऊपर झुका हुआ एक आदमी है और बडे बडे अक्षरोंमें नीचेकी तरफ Andrew Salt ये शब्द लिखे हुए हैं। ऐसा वर्णन उसकी स्त्रीने किया। यह वर्णन उस समय लिखकर लिया गया। बादमें १९ मईके अंकमें पहले पृष्ठपर उस वर्णनका सचित्र विज्ञापन सचमुच प्रकाशित किया। 'डेलीमेल' कार्यालयमें पूंछताछ करनेपर मालूम हुआ कि पहलेका चित्र बदलकर यह चित्र रक्खा जाय यह सूचना २८ अप्रैलको विज्ञापनदाताने दी थी। इस सूचनासे पूर्व ही उस स्त्रीने यह भविष्यवाणी की थी।

× होम युनिव्हर्सिटी लायब्रेरीमें प्रो. बॅरेटका Psychical Research इस विषयपर एक पुस्तक है। उसमें प्रो. बॅरेट लिखते हैं कि मैंने एक लडकीको मॅस्मेरिक निद्रामें सुला दिया और दूसरे कमरेमें जाकर एक पुस्तकमें चौकटका एक पंजा रखकर उसे बंद कर दिया। वह बंद पुस्तक उसने अपने कानके पास रक्खा और मुझे कहा कि पुस्तकमें एक वस्तु है। उस वस्तुपर काल बूंदें हैं। मैंने उससे कहा कि कितनी बूंदें हैं? लडकी बोली पांच हैं। प्रो. बॅरेटको इस प्रकारके

अणिमा, महिमा आदि सिद्धियाँ

पतञ्जलिने ततो अणिमादि प्रादुर्भावः (३, ४५) इस सूत्रमें अणिमा-आदि सिद्धियोंका निर्देश किया गया है। आठ सिद्धियाँ हैं। उनके नाम अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व हैं। ✻ वासना आदि शरीरोंको यदि कोई बारीक (परमाणु जैसा) पदार्थ देखना हो तो उस शरीरकी दर्शनेन्द्रिय भी बारीक करनी पडती है। ऐसा करनेसे वह बारीक पदार्थ बडा दिखाई देने लगता है। इस सिद्धिका नाम अणिमा, अर्थात् अणुके समान बारीक होना, है। अत्यन्त विशाल पदार्थ देखना हो तो देखनेकी इन्द्रिय भी बडी करनी पडती है। महिमा अर्थात् बडे होनेकी क्रियाका नाम। लघिमाका अर्थ रूईके समान हल्का हो जाना। गरिमाका अर्थ पाषाणके समान कठोर हो जाना। पृथ्वीकी आकर्षण शक्ति केवल एक प्रकारकी नहीं होती। बिजली, चुबन शक्ति (Magnetism) जिस प्रकार धन और ऋण ऐसे दो प्रकारकी होती है वैसे ही पृथ्वीके गुरुत्वाकर्षणका भी है। आकर्षणकी विरुद्ध एवं उत्सारण ऐसी दो शक्तियाँ सचमुच पृथ्वीमें हैं। उनका उपयोग करके, लोहचुंबकसे जिस प्रकार सूई आकर्षित कर ली जाती है और दूर सरकाई जा सकती है, तद्वत् वस्तु भारी की जासकती है और हलकी की जासकती है। इसीलिये योगी वजनकी दृष्टिसे कम या अधिक हो सकता है तथा हवामें भी आधारित रह सकता है। + गरिमा और लघिमा ये दो सिद्धियाँ उन क्रियाओं-को लक्षित करके रहती हैं। प्राप्तिका अर्थ व्यासजीने " अंगुल्यग्रेण स्पृशति चंद्रमसम् " अर्थात् उंगली-के अग्रभागसे चन्द्रस्पर्श कर सकता है, ऐसा किया है। वासनाशरीरसे प्रवास करना ही इसका अर्थ प्रायः सम्भव है। पृथ्वीका भुवर्लोकका आवरण एवं चन्द्रमाके भुवर्लोक-का आवरण इनकी मर्यादायें एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। चन्द्र-स्पर्शकी एक मर्यादा निर्धारित करदेनेके कारण तथा भुवर्लोकमें वासना शरीरका प्रवास चन्द्रमातक होनेसे ' प्राप्ति ' इस सिद्धिका वैसा अर्थ किया जाना उचित प्रतीत होता है। ' प्राकाम्य ' का अर्थ इच्छानुसार चाहे जो कुछ कर सकना। ' ईशत्व ' का अर्थ सत्ताका संचालन करना। ' वशित्व ' का अर्थ दूसरे पदार्थोंका अपने आधीन रहना। व्यासने ' प्राकाम्य ' का अर्थ जमीनके अन्दर अनिरुद्ध रूपसे प्रवेश करना, ऐसा किया है। वासना शरीर तथा अन्य सूक्ष्मशरीर इनकी गतिविधि तथा प्रवासमें पृथ्वीकी रुकावट पैदा नहीं होती। जलमें जिस प्रकार आदमी तैरता है उस प्रकार इन शरीरोंसे, मनुष्य कर सकता है। ' ईशत्व ' तथा ' वशित्व ' शब्दों-

---

अनेक अनुभव आचुके हैं। बंद किये हुए लिफाफेके पत्रको पढना, बंद सन्दूककी वस्तुओंको पहचानना, छिपाई हुई घडीके कांटे पहचानकर समय बताना, इन बातोंके अनेक अनुभव अनेक संशोधकोंको आचुके हैं।

मनुष्यके हवामें बीचोबीच आधारित रहनेके उदाहरण साइकल रिसर्चके क्षेत्रमें निर्दिष्ट (लिखित) किये गये हैं। सर विलियम क्रुक्सके Researches in the Phenomena of Spiritualism इस पुस्तकमें पृ० ८९ पर उन्होंने अपने अनेक अनुभव लिखे हैं। वे कहते हैं " मि० होम नामक व्यक्तिको तीन भिन्न भिन्न अवसरोंपर जमीनके ऊपर पूर्णरूपसे बीचोंबीच आधारित मैंने देखा है। एक बार वह आरामकुर्सीपर बैठा था, एक बार कुर्सीपर घुटने टेककर उसे बिठाया गया था और एक बार वह खडा था। प्रत्येक बार उस क्रियाके होते समय मैंने उसे ध्यान देकर पूर्णरूपसे देखा था। जमीनसे उठकर बीचोबीच रहनेकी क्रिया मि. होम द्वारा अनेक लोगोंके सामने कमसे कम सौबार करनेका लिखित प्रमाण उपलब्ध है। "

+ मेस्मेरिज्म की अवस्थामें मनुष्यको अपने अन्दरके भाग बराबर दिखाई देते हैं। इसके उदाहरण डॉ० ऑस्टीकृत Supernormal Faculties of man इस पुस्तकमें दिया गया है। हमेशाकी जागृत स्थितिमें घन पदार्थोंके आरपार देखनेके उदाहरण रिशेकृत Thirty Years of Psychical Research इस पुस्तकमें मिलेंगे।

✻ रेळे कृत ' पातंजल योगशास्त्राचा अभिप्राय आवृत्ति ३ री पृ० १४५.

इन सिद्धियोंके नामोंके विषयमें सब ग्रन्थकार एकमत नहीं है।

का अर्थ सरलतापूर्वक समझमें आजाता है। किन्तु किन बातोंका 'ईशत्व' तथा 'वशित्व' यह स्पष्ट नहीं है।

योग शास्त्रमें पर्याप्त प्रगति हो चुकनेपर मनुष्य इस प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है। किन्तु उत्तम प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त करना अत्यन्त परिश्रम-साध्य है। सिद्धि याने एक नवीन इन्द्रिय, ऐसा कहें तो कोई बाधा नहीं है। विशिष्ट इन्द्रियद्वारा मनुष्यको ज्ञान प्राप्त होता है वह विशुद्ध हो, ऐसी इच्छा यदि हो तो केवल उस ज्ञानेन्द्रिय की प्राप्तिमात्रसे काम नहीं चलता। वह इन्द्रिय उत्कृष्ट कार्य कर सके इतनी क्षमता उनमें उत्पन्न करनी आवश्यक होजाती है। कोई शास्त्रज्ञ जब दुर्बीन (सूक्ष्मदर्शक यन्त्र) का उपयोग करके जन्तुशास्त्रका अनुसन्धान करता है तब उसके पास केवल दुर्बीन होने मात्रसे ही काम नहीं चलता। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र तो आवश्यक रहता ही है; किन्तु उस-का उत्तमस्थितिमें रहना तथा कार्यक्षम होना भी आवश्यक है। उसके कांच साफ रहने चाहिये, ऊपर नीचे करनेके स्क्रू, तलीका कांच, दृश्य वस्तु रखनेके कांच जहाँकी तहाँ और व्यवस्थित रखने पडते हैं। उस यन्त्रकी सहायतासे संशोधन करना हो तो उसे सूक्ष्मगतिसे नीचे ऊपर करनेकी आदत अंगुलियोंको होनी चाहिये, उनमेंसे देखनेकी आदत आँखोंको होनी चाहिये, आँखों को जो दिखाई देता है उसका हूबहू चित्र अंकित करनेकी कुशलता हाथोंमें होनी चाहिये और दुर्बीनमें जो स्थान दिखाई देते हैं, उनके विभाग करके उनसे आवश्यक हिसाब करनेकी योग्यता होनी चाहिये। सिद्धियोंके सम्बन्धमें भी ठीक यही परि-स्थिति है। केवल सिद्धिरूपी इन्द्रियाँ होनेसे काम नहीं चलता, उस इन्द्रियको कुशाग्र करना पडता है। जो बातें उस सिद्धि-द्वारा दिखाई देंगी उनमें गलती न होगी, इस प्रकारकी विश्वसनीयता उस इन्द्रियमें उत्पन्न करनी पडती है। उन इन्द्रियोंका पुनः पुनः उपयोग करके उन्हें अभ्य-स्त करना पडता है। इन्द्रिय शक्तियोंका उपयोग करते समय गलतियाँ होती हों तो उन्हें सुधारना, वे क्यों होती हैं, यह जान लेना और इस प्रकारसे उन सिद्धियोंके द्वारा ठीक ठीक और निर्दोष ज्ञान प्राप्त करना, यह सारा खटा-टोप करना पडता है। बहुत थोडे लोग इस परिश्रम को करते हैं और इसीलिये ' ' योगी ' कहलानेवाले लोग जो कुछ कहते हैं, वह अनेक बार मिथ्या प्रमाणित होजाता है।

धर्म विषयक संशोधन

यदि मनुष्यको उत्कृष्ट प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाँय तो उन सिद्धियोंके द्वारा वह अदृश्य सृष्टीका संशोधन कर सकता है। सूक्ष्मदर्शक यन्त्रोंसे तज्ञ मनुष्य रोग-जन्तु तथा आकाशस्थ ग्रहोंको प्रत्यक्ष देखकर जन्तुशास्त्र तथा ज्योतिषशास्त्र भी निर्माण कर लेते हैं। तद्वत् सिद्धियों की सहायतासे तज्ञ मनुष्य मरणोत्तर स्थिति, स्वर्गलोक, मन्त्रोंके परिणाम, देवदेवता, पुनः पुनः जन्म लेनेकी प्रक्रिया, मनुष्यके अदृश्य शरीर इत्यादि अनेक बातें सुव्यवस्थित रीतिसे देख सकता है और उस जानकारी द्वारा धर्म नामका एक शास्त्र अस्तित्वमें आ सकता है, यह हम पहले कह ही चुके हैं। भगवान् श्रीकृष्ण, बुद्ध, व्यास, जरथुस्त, ईसा, महंमद आदि श्रेष्ठ पुरुषोंने जो धर्मस्थापना की है वह कविकल्पना पर आधारित न होकर सिद्धियोंके सहयोगसे प्रत्यक्ष प्राप्त ज्ञानके आधारपर की है। संसारकी सभी संस्थाओंमें कालवश कूडाकचरा और गंदगी इकट्ठी होजाती है, तद्वत् धर्मके शास्त्रमें आज बहुतसा अज्ञान, संकुचित वृत्ति और धार्मिक पागलपनेकी गन्दगी इकट्ठी होगई है। इस गन्दगीकी उपेक्षा करके यदि धर्मके मूल स्वरूपका विचार करें तो अदृश्य सृष्टिके संशोधनपर वह आधारित है, यह स्पष्ट दिखाई देगा।

संसारके भिन्न भिन्न धर्मोके अधिकारी पुरुष प्राचीन-कालमें होचुके हैं। उस समय जन-मनके सामने आधुनिक भौतिक शास्त्र न थे। भौतिक शास्त्रके निरीक्षण एवं प्रयोग उनमेंकी सुव्यवस्थित एवं क्रमशः जानकारी, सृष्टिके विभिन्न पदार्थोंका और उनके गुणधर्मोंका ठीक ठीक एवं सूक्ष्मताके साथ किये गया वर्णन, या बातें जिस प्राचीन कालमें जनताकी समझमें नहीं आती थीं उस समयमें धर्मोंकी स्थापना इन अधिकारी पुरुषोंने की है। अर्थात् ऐसा समझ बूझकर तथा कालानुरूप ही किया गया है। आज भौतिक शास्त्रके प्रसारके कारण संसारकी जिज्ञासा बदल चुकी है। धर्मकी प्राचीन व्यवस्था अब लोगोंको

उतनी रुचिकर नहीं लगती। यह धार्मिक पागलपन उन्हें पसन्द नहीं है। नवीन शंकायें तथा नवीन प्रश्न उनके मनमें उठने लगे हैं। उन नये प्रश्नोंका उत्तर आवश्यक हो तो अदृष्ट सृष्टिका संशोधन फिरसे होना आवश्यक है। थिऑसफी नामक जो नवीन धार्मिक आन्दोलन संसारमें फैल रहा है, उसमें यह प्रयत्न किया जारहा है। उस आन्दोलनमें अनेक अग्रगण्य व्यक्तियोंने सिद्धि संपादन करके इस प्रकारकी नूतन धार्मिक व्यवस्था संसारके सामने प्रस्तुत की है। सिद्धियोंका सबसे अधिक महत्वका उपयोग यही है। +

सिद्धि सम्पादन करनेके लिये किन्हीं विशेष क्रियाओंको करना पडता है। सबीज समाधि सिद्ध करके किसी बीजपर (विचार पर) मन एकाग्र करना और फिर उस बीजको हटाकर निर्बीज समाधिमें एक मंजिल ज्ञानसे ऊपर चढना, शरीरके विशिष्ट भागपर मन एकाग्र करके तथा वहाँपर प्राणोंका प्रवाह आकर्षित करके उस स्थानके चक्रको विकसित करना, कुण्डलिनी जागृत करके उसे भिन्न भिन्न चक्रोंमें घुमाना, आदि अनेक मार्गोंद्वारा सिद्धि सम्पादित की जा सकती है। इस विषयकी चर्चा इस पुस्तकमें पहले आचुकी है। इसी प्रकार इस मार्गमें कौनसी बाधायें और धोके हैं उनका भी उल्लेख पहले हो चुका है। उसकी यहाँ पुनरुक्ति आवश्यक नहीं है, किन्तु सिद्धियाँ ज्ञानकी अन्तिम स्थितिके लिये पोषक नहीं है, अपितु घातक हैं, ऐसा जो अनेक व्यक्तियोंका मत है उसका विचार किये बिना इस प्रकरणको समाप्त करना उचित न होगा। योगीको ज्ञानप्राप्तिके लिये सिद्धियाँ अत्यन्त उपयुक्त हैं, यह हम ऊपर देख ही चुके हैं। किन्तु जो अपने मनको वशमें नहीं रख सकता उसके लिये सिद्धियोंके कारण बडे बडे मोहों (आकर्षणों) का सामना रहता है इसे भूलना नहीं चाहिये। पतञ्जलि कहते हैं-**स्थानि-उपनिमन्त्रणे संग-स्मय अकरणम् पुनः अनिष्ट प्रसङ्गात्।** (३,५१) इसका अर्थ व्यासने इस प्रकार किया है कि स्थानी या देव मोहित करनेके लिये योगीको आमन्त्रण देते हैं, (और कहते हैं कि यह स्त्री सुन्दर है, वह अमृत तेरा शरीर वज्रके समान दृढ कर देगा, यह विमान तुझे त्रैलोक्यकी सैर करावेगा, अतः तू इन्हें स्वीकार कर) उस समय उसे आसक्ति का अभिमान छोड देना चाहिये, वह उस मोहमें पडेगा तो पुनः अनिष्ट बातोंकी प्राप्ति उसे होगी। अर्थात् योगीका अधःपतन हो जाता है। सिद्धियोंके विषयमें यह धोका है, इसका उल्लेख पूर्व किया ही जाचुका है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि चतुर व्यक्ति उन सिद्धियोंको प्राप्त ही न करे। जिसे प्रलोभन आकर्षित नहीं कर सकते उसके लिये सिद्धियाँ उपयुक्त हो सकती हैं। सिद्धियाँ अनेक मार्गोंसे प्राप्त हो सकती हैं। उनमें 'समाधि' सिद्धि प्राप्त कर लेनेका एक साधन है ऐसा, **जन्म औषधि मंत्र-तपः समाधिजाः सिद्धयः** (४, १) इस सूत्रमें पतञ्जलि कहते हैं। अर्थात् यदि समाधिद्वारा सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और समाधि एक उच्च स्थिति है तो

+ इस संशोधनकी विस्तृत जानकारी देनेका यह स्थान नहीं है। किन्तु संक्षेपसे कहना हो तो भुवर्लोक तथा स्वर्लोकका संशोधन The Astral Plane और The Devachanic Plane इस पुस्तकमें मनुष्यके सूक्ष्म शरीरकी जानकारी The Man Visible and Invisible तथा The Man and his Bodies इस पुस्तकमें मनुष्योंकी भावना एवं विचारोंके अदृश्य परिणाम क्या होते हैं उसे The Thought Fosms इस पुस्तकमें गायत्रीके अदृश्य परिणाम कौनसे होते हैं उसे A congregational Pooja for the Hindus इस पुस्तकमें, मनुष्यकी पूर्व उत्क्रान्ति किस प्रकार होती आई है तथा अपनी सूर्यमालामें भिन्न भिन्न गोलकोंपर उत्क्रान्तिके कौनसे उद्योग जारी हैं, इसे The man Whence How and Whither ? इस पुस्तकमें, मनुष्यका पुनः पुनः जन्म कैसे होता है इसे The Lives of Alcyone तथा The Souli Growth through Reincarnatian इस पुस्तकमालामें, उच्चभूमिकाका ज्ञान किस प्रकारका होता है इसे Nirvana इस पुस्तकमें और व्यक्तिके समान संस्कृति और राष्ट्र किस प्रकार नष्ट होजाते हैं तथा कैसे फिरसे जन्म लेते हैं इसका विवरण Theosophy and Modern Thought इस पुस्तकमें पाठकोंको मिलेगा।

सर्वथा बुरी है, यह कथन अनुपयुक्त सिद्ध होता है। सच-मुचमें समाधि लगाकर एक मंजिल ऊपर चढनेपर बहिर्मुख होकर ज्ञानप्राप्तिका जो साधन मिलता है वह सर्वथा बुरा कैसे हो सकता है? इसलिये पतंजलि कहते हैं "ते समाधौ उपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः। (३, ३७) अर्थात् उच्च भूमिकापर ज्ञान देनेवाली जो शक्तियाँ हैं वे समाधिमें रुकावटें उत्पन्न करती हैं। यदि एक योगी भुव-र्लोकमें अपना ज्ञान सहज ले जाता है। अर्थात् ऐसा मनुष्य यदि भुवर्लोकमें घूमफिरकर वहाँका ज्ञान प्राप्त करनेमें निपुण हुआ हो तो जागृत स्थितिमें वह भूलोकमें व्यवहार करेगा और भुवर्लोकमें भी व्यवहार करेगा। वह मनुष्य यदि अपने किसी मित्रसे बोलेगा तो उसके कपडे उसे दिखलाई देंगे और उसका वासना शरीर भी उसे दिखाई देगा। कपडे देखना भूलोकका व्यवहार है और वासना-शरीर देख सकना यह भुवर्लोकका व्यवहार है। इस मनुष्यको समाधि लगानी होगी तो अपने मित्रके कपडे और उसका वासनाशरीर इन दोनों बातोंसे मन खींचकर उसे अन्तर्मुख होना होगा तथा एक मंजिल और चढकर उसे स्वर्लोकको ज्ञान ले जाना पडेगा। स्वर्लोकमें ज्ञान लेजाना ही इस मनुष्यकी समाधि है। स्वर्लोकका ज्ञान नीचे लेजाकर वह भूलोक-भुवर्लोक फिरसे देखने लगे तो समझना चाहिये कि उसकी समाधि उतर चुकी है, उसका 'व्युत्थान' हुआ, ऐसा कहना पडेगा। व्युत्थानका अर्थ 'दुसरी' उच्च स्थितिसे उतरकर हमेशाकी अवस्थामें आजाना है। ऐसे मनुष्यके लिये व्युत्थान स्थितिमें सिद्धि उपयुक्त है। उन सिद्धियोंका उपयोग करके वह मनुष्य भुवर्लोकका ज्ञान प्राप्त करेगा। किन्तु यदि इस मनुष्यको समाधि लगानी हो, ज्ञानसे एक पायरी ऊपर जाना हो, तो मित्रके कपडे और उसके वासनाशरीरकी ओर बहि-र्मुख वृत्तिसे देखते रहना गलत होगा समाधिके लिये इस बातकी तरफ ध्यान न देकर जब वह मनको अन्दर आकर्षित करेगा तभी उसे समाधि होगी ऐसा पतञ्जलिका कहना है। उसका अर्थ पाठक अब समझ सकेंगे। अतः व्युत्थान स्थितिमें हमेशाकी स्थितिकी सिद्धियाँ उपयुक्त होती हैं; किन्तु उस स्थितिमेंसे समाधि लगाकर ऊपर जाना हो तो उनकी रुकावट होती है, ऐसा जो पतञ्जलि कहते हैं, वह उचित ही है।
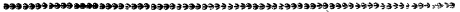
रामराज्य और समाजवाद

लेखक- श्री स्वामी करपात्रीजी

स्वामी करपात्रीजीने रामराज्य और समाजवादका तुलनात्मक विवेचन करते हुए रामराज्यमें आर्थिक सन्तुलनका विवरण दिया है। समाजवादियों द्वारा सबकी समताके लिये किये जानेवाले उद्घोषकी विशुद्ध अव्यवहारिकता सिद्ध करते हुए आजके लोकतन्त्रकी सभी देशोंमें होनेवाली दुर्दशाका चित्र खींचा है और यह बताया है कि किस तरह अन्ततः इन लोकतन्त्रका उद्घोष करनेवालोंको भी अप्रत्यक्षतः राजतन्त्रका आश्रय लेना पड़ता है।

वर्गविहीन समाजकी कल्पना तो वैसी ही है जैसे अङ्गविहिन शरीरकी कल्पना। अवश्य ही वे वर्ग शोषक एवं शोषितोंके न होकर विद्याओं, शक्तियों तथा तदनुकूल विविध प्रयत्नोंके भेदकृत होते हैं। सामान्यतया बुद्धिजीवियों, शास्त्रजीवियों, उद्योगियों, श्रमिकों, कृषकों और उनके भी अवान्तर अनेक भेद होते हैं। इनमें परम्पराका आदर होनेसे श्रेणीसंघर्षको अवकाश नहीं रहता, अन्यथा एक किसी कार्यालयमें एक स्थानके रिक्त होनेपर सहस्रों आवेदन पत्र आते हैं, कोई एक सफल होता है और शेष निराश। समाजवादियोंकी दृष्टिसे सामन्तवाद और पूंजीवाद ही शोषणवाद है किन्तु व्यक्तिके स्थानपर सरकारके हाथमें सारी भूमि और सम्पत्तिके आ जानेपर स्वयं वही पूंजीवादियों, सामन्तवादियोंसे बदतर हो जाती है। व्यक्तियोंको सरकारका डर भी रहना है, पर सरकारें सर्वथा निरंकुश हो जाती हैं। कहनेके लिए तो सरकारें जनताकी ही बनायी कही जाती हैं-जनताको अयोग्य सरकार मिटाकर योग्य सरकार बनानेका हक सदा रहता है-परन्तु व्यवहारसिद्ध बात यही है कि सर्वशक्तिसम्पन्न सरकारकी इच्छाके विपरीत अशक्त जनता कुछ भी नहीं कर पाती। मुट्ठी भर तानाशाहोंके हाथमें शासनयन्त्र रहता है और जनता उसका नगण्य कल-पुर्जा बनकर पिसती रहती है।

कहनेको इलेक्शन भी होता है, पर जब व्यक्तिगत भूमि-सम्पत्ति न रहे तो गैर सरकारी प्रेस, पत्र तथा कोई भी पार्टी कैसे टिक सकती है? फिर सरकारसे मतभेद रखनेवाला उम्मीदवार ही कैसा? वहां तो केवल कानूनके बलपर जनताको वोट डालने पडते हैं। यदि लन्दन शहरके व्यापारी ब्रिटिश साम्राज्यभरकी बागडोर अपने हाथमें रखते हैं, फ्रांसकी लाखोंकी आबादीपर दो सौ धनकुबेर राज्य करते हैं तो रूस आदि साम्यवादी राष्ट्रोंमें बडे-से-बडे राष्ट्रपर पचीस, पचास आदमियोंका गिरोह ही हुकूमत करता है। इधर भी मुट्ठी भर 'जनताके सेवक' कहलानेवाले लोग शानदार महलों, प्राइवेट शाही मोटरों, वायुयानोंमें मौज लेते हैं पर 'मालिक' कहलानेवाली जनताको टूटी झोपड़ी और सूखी रोटी भी मिलना मुश्किल होता है। 'गरीबों मजदूरोंके राज्य' की चिल्लाहट मचायी जाती है पर राज्य मुट्ठीभर तानाशाहोंके हाथमें रहता है। नेता नामधारियोंके ऐश-आराम, खान-पान, पोशाकका जनताके खानपान, पोशाकसे कोई भी मेल-जोल होता ही नहीं। फिर भी देशके भाग्य-विधाता ये ही समझे जाते हैं। कमानेवालोंको पेट भरनेको अन्न और तन ढांकनेको कपडा तक नहीं मिलता है। कन्ट्रोल, प्रबन्धके नामपर उनकी गाढी कमाईके गेहूँ चावल आदिका संग्रह करके अनुभवशून्य शासक मूर्खतावश इसे नष्ट कर डालते हैं। उत्पादकोंको अपने सेवक कहे जानेवाले शासकोंकी कृपापर अवलम्बित रहना पडता है।

कहनेके लिए कानूनकी दृष्टिमें सब बराबर हैं। सबके साथ समता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताके व्यवहारका ढिंढोरा पीटा जाता है, पर गरीबोंके साथ होनेवाले न्याय कितने पक्षपातपूर्ण होते हैं, यह किसीसे छिपा नहीं। न्यायालयोंमें

भी न्यायकी हत्या होती ही रहती है। बड़ा आदमी कहलानेवाला सरकारी कर्मचारी या उनका सम्बन्धी चोरबाजारी घूसखोरी करनेपर भी नहीं पकड़ा जाता, पर गरीब बिना अपराध भी पिसता है। जेलमें भी बड़े आदमीको 'ए' क्लास और गरीबोंको (भले ही गोवधबन्दी और धर्म विरोधी कानूनके रोकनेके ही कारण जेलमें गये हों) 'सी' क्लास मिलता है। आज हमारा देश स्वतन्त्र हुआ पर जनताका दुःख मिटनेकी कोई भी सम्भावना नहीं दिखायी देती। हाँ, पाप करनेकी आजादी शासकोंको मिली है। भूखों मरने और दुख भोगनेकी आजादी नागरिकोंको अवश्य मिली है।

समाजवादी भी मानते हैं कि सामन्तवादी जमानेमें भी आज जैसी गरीबी नहीं हुई थी। पहले मेहनती आदमियोंको भूखों मरनेकी नौबत नहीं आती थी। आज तो हर देशमें बेकारी की एक बड़ी फौज खड़ी हो रही है। श्रमिकोंको हर समय बेकारीका भय लगा रहता है।

समाजवादियोंका कहना है कि 'उत्पादन' विनिमय एवं वितरणके साधनों पर चन्द पूंजीपतियोंका अधिकार है। मिलों, कारखानों, बैंकोंमें काम करनेवालोंको कोई अधिकार नहीं। पहले बड़े पैमानेपर पैदावार नहीं होती थी तब उत्पादनके साधनपर व्यक्तिगत अधिकार रहता था। बहुत हदतक पैदावार करनेवालोंको अपनी पैदावारका लाभ मिल जाता था। किन्तु आज बड़े पैमानेपर पैदावार होती है, पर उत्पादनके साधनोंपर समाज या उनमें काम करनेवालोंको कोई अधिकार न होकर व्यक्तिगत पूंजीपतियोंका ही अधिकार है। फलस्वरूप सारा नफा पूंजीपतियोंकी ही जेबमें जाता है। मजदूरोंको मुश्किलसे उनके पेट भरनेको दिया जाता है। इस तरह समाजका बहुसंख्यक भाग गरीब हो जाता है। उनकी क्रयशक्ति दिनोंदिन घटती जाती है; इसलिए पूंजीपतियोंको अपने कारखानोंका माल बेचना मुश्किल हो जाता है। इस प्रकार उत्पादनकी शक्तियों उत्पादनके साधनों तथा उत्पादनशक्तियों एवं विनिमयके बीच घोर असंगतियां उपस्थित हो गयी हैं। उन असगतियों और असमताओंको दूर दूर करना समाजवादका लक्ष्य है।

किन्तु वस्तुतः समाजवादसे उक्त समस्याका समाधान होगा। उसमें सम्पूर्ण साधन समाजके हाथ अर्थात् सरकारके हाथ चला जायगा। आज जैसा ही सरकारी यन्त्र निरंकुश रूपसे काम करेगा। वह अवस्था आजसे भी अधिक शोचनीय होगी। तब इतना भेद और होगा कि अनुभवशून्य, गैर जिम्मेदार लोग जड़ यन्त्रवत् उत्साहशून्य लोग उद्योग-धन्धोंमें लगेंगे, उत्पादन शक्ति नष्ट होती जायगी। इसके विपरीत रामराज्य पद्धतिमें व्यक्तिगत वस्तु रहेगी, जनतामें शक्ति रहेगी, सरकारी निरंकुशता पर नियंत्रण रहेगा। श्रमिक कृषकोंको श्रम अनुसार सुविधा प्रदान की जायगी। उन्हें उचित पुरस्कार दिया जायगा। उनके स्वास्थ्य तथा शिक्षणका स्तर ऊंचा बनाया जायगा। साझेदारीकी सम्पत्तिमें जहाँ लाभकी हालतमें आमदनी बढ़ेगी वहीं घाटेकी हालतमें नुकसान भी उठाना पड़ेगा। रामराज्यकी दृष्टिमें अतिरिक्त आय पांच हिस्सोंमें बांटी जायगी जिसमें एक हिस्सा मूल सम्पत्तिकी रक्षा और वृद्धिमें व्यय होगा, आधा हिस्सा जीवन यात्रामें, साढ़े तीन हिस्से धर्म, यश और स्वजनोंके नामपर राष्ट्र के सार्वजनिक हितके काममें व्यय होंगे। फिर आर्थिक असन्तुलताका प्रश्न ही कहाँ उठता है।

इसके अतिरिक्त वस्तु सत्ता प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं करती है। किसी दाय, दान, क्रय, जय, पुरस्कार, विवाह द्वारा प्राप्त धन धर्म्य माना गया है। किसीके धर्म प्राप्त धनके अधिकारका अपहरण करना अत्याचार ही हो सकता है। अपने पिता पितामहकी सम्पत्तिपर अधिकार माननेसे ही किसीको अपने राष्ट्रमें भी हक मान्य होता है, अन्यथा कोई विदेशी भी किसी अन्य राष्ट्रका मालिक बन सकता है। इसी तरह दानमें पायी वस्तुका अपहरण करना भी भारतीय सभ्यताकी दृष्टिसे बड़ा पाप माना गया है—

'स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेत्तु यः।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः॥'

अर्थात् अपने या दूसरेसे दी हुई ब्रह्म-वृत्तिका जो अप

हरण करता है वह साठ हजार वर्षतक विष्ठाका कीडा होता है। इसी तरह गाढे पसीनेकी कमाईसे खरीदी सम्पत्तिपर भी वैध अधिकार मानना उचित है। इसी तरह संग्राम लडकर, शिर कटाकर प्राप्त वस्तु तथा इनाम या विवाह आदिमें मिली चल-अचल वस्तुओंपर भी उसका अधिकार वैध है। यदि इन वास्तुओं पर भी व्यक्तिगत अधिकार असामान्य हो तब तो मिनिस्टरोंकी मोटरों और बंगलों, बैङ्कों, दूकानोंका भी बटवारा होना उचित होगा। इससे विपरीत आज देखा तो यह जाता है कि उन मिनिस्टरोंका रूप राजाओं, जागीरदारों, जमींदारों एवं पूंजीपतियोंसे भी भयंकर हो रहा है। सच तो यह है कि खानदानी राजा-रईसोंपर कुछ जिम्मेदारी रहती थी पर इन मिनिस्टरोंपर कोई जिम्मेदारी नहीं। अधिक-से-अधिक इस्तीफा दे देना ही पर्याप्त समझा जाता है।

फिर यह तो अपेक्षाकृत बात है। पहले स्वयं मध्यम वर्गमें ही समता नहीं हो पाती। किसीके हजार बीघा खेत हैं तो किसीके दो ही बीघा, किसीके पास हजार रुपये हैं तो किसीके दो ही रुपये हैं। फिर संसारमें तो विशेषता पानेकी होड लगी रहती है। विद्या, बुद्धि, बल, शक्ति, चतुरता, कर्तृत्व या दार्शनिकतामें विशेषता लानेके लिए प्राणियोंका स्वाभाविक प्रयत्न चलता ही रहता है। स्वयं समाजवादी भी स्वीकार करते हैं कि समाजवाद पूर्ण समता-का दावा नहीं करता। समाजवादी समाजके सदस्योंमें भी शारीरिक और मानसिक अन्तर रहेंगे। उनका कहना है कि 'शोषकवर्गका अन्त कर असमताके आर्थिक आधारको नष्ट कर दिया जायगा और सबको अवसरकी समता प्रदान करेगा।' किन्तु विचारशील देखेंगे कि यह कैसा बुद्धिका दिवालियापन होगा, जो समता निर्माण नहीं कर सकता उसे उद्ध्वंस करनेका हक ही क्या है?

वस्तुतः समाजवादीकी दृष्टिमें जो धनवान् है, भले ही वह अच्छा क्यों न हो, इमानदार ही क्यों न हो, गाढी कमाईका ही उसका पैसा क्यों न हो वह शोषक ही समझा जायगा। उसका इसी दोषसे अन्त कर दिया जायगा। किंतु वह गरीबोंकी गरीबी मिटाने या गरीबोंके जीवनस्तर उच्च बनानेकी जिम्मेदारी नहीं लेता। कोई बलवान् है, हृष्टपुष्ट है, इसलिये ही वह शोषक है, उसका अन्त होना चाहिये परन्तु इससे दुर्बल बलवान् हो, हृष्टपुष्ट हो, इसका जिम्मेदार कोई नहीं होता। एक पिताकी लाख सम्पत्तिमें दो पुत्रोंको बराबर हिस्सा मिल गया। दोनों-को उन्नतिका समान अवसर था, फिर भी कोई पुरुषार्थसे धनवान् हो गया कोई प्रमादसे सब गवाँ बैठा। इसी तरह पुनः पुनः धनवान्को खत्म कर देने मात्रसे समस्या हल नहीं हो सकती। जब अंधेको आँखवाला नहीं बना सकते तब आँखवालेकी आँख बिगाडकर असमताके आधार नष्ट करनेका क्या अर्थ है?

कोई समाजवादी अपने दो पुत्रोंके साथ समान व्यवहार करता था। एक दिन जब एक पुत्र मर गया तब सोचने लगा कि अब तो एकको जलाना पडेगा और दूसरेको दूध पिलाना। यह विषमता हो जायगी। यदि मरे हुएको जिला सके तब तो दोनोंको दूध पिलाया जा सकता है किन्तु मरेको जिला नहीं सकते, तब जीवितको मारकर दोनोंको जलाकर ही समताका व्यवहार हो सकता है। आश्चर्य तो यह है कि व्यावहारिक जगत्में भला-बुरा, मूर्खता, बुद्धिमानी, दुर्बलता-सबलता, स्वस्थता-रुग्णता, या विष अमृतकी विषमता स्पष्ट है। रोगों, औषधों, यन्त्रों, कल-पुर्जों, शिक्षा आदिमें दिन-रात विषमताका भान हो रहा है। विषमताके लिए सब प्रयत्नशील हैं, फिर भी विपरीत दिशामें प्रयत्न कितने उपहासका विषय है!

अवश्य ही यह बुद्धिमानी कही जायगी कि रोग मिटा-कर रुग्णको स्वस्थके समान बनाया जाय। निर्बलता दूरकर बलवान्के समान बनाया जाय। मूर्खता दूरकर बुद्धिमानके समान बनाया जाय। निम्नस्तरके लोगोंको उच्चस्तरमें ले जाया जाय। सभी वर्गोंका वास्तविक हित धर्म-नियन्त्रित राज्यमें ही सम्भव होगा। तब बहुमतकी कौन कहे, अल्पमतकी भी उपेक्षा नहीं हो सकती है।

कहा जाता है कि वर्तमान लोकतन्त्रका प्रादुर्भाव इंगलैंडमें हुआ। वहांकी जनताके नायकोंने अपने बादशाह प्रथम चार्ल्सको मारकर लोकतन्त्र स्थापित किया। किन्तु लोकतन्त्रके शासक बादशाहोंसे कहीं भयंकर

निकले। जनता उनसे ऊब गयी। उसका जीवन निरुत्साह एवं निस्सार हो गया। अन्तमें उसे फिरसे अपना बादशाह बनाना पड़ा। अब वहां राजतन्त्र और लोकतन्त्र साथ साथ चल रहा है।

उसी लोकतन्त्रका एक रूप रूसमें तो फैला। वहाँ बादशाहों, जागीरदारों, महन्तों, मठोंको खत्म कर कम्यूनिज्म-की घोषणा की गयी। किन्तु वह एकदलीय शासन है, वर्षोंसे एकदल शासनारूढ है। फ्रांसमें लोक-तन्त्रका परिणाम नैपोलियन हुआ। बादमें तो साल-सालमें अनेक शासनों-में अदला-बदली होती रहती है। अमेरिकामें भी यद्यपि रिपब्लिकन या डेमोक्रेटिक पार्टीके नामसे काम होता है पर वहां भी मुट्ठीभर पूंजीपतियोंका ही सम्पूर्ण राष्ट्रपर प्रभुत्व है। वहां भले ही राजा बादशाह आदि खत्म हो गये हैं। परन्तु 'किंग कोल' 'पेट्रोल एम्परर' आदि बहुतसे हैं। यही स्थिति प्रायः अन्य राष्ट्रोंकी है। घोषणाएँ तो अच्छी अच्छी होती हैं। मजदूरोंका राज्य, गरीबोंका राज्य, किसानोंका राज्य, कहा सुना जाता है किन्तु बात ठीक इसके विपरीत है।

समाजवादी यह स्वयं मानते हैं कि यद्यपि आज जैसी भीषण विषमताएँ न रहेंगी, पर आर्थिक एकरूपता तथा देशोंकी एकरूपता असंभव कल्पना है। समाजवादका आदर्श यह है कि हर व्यक्तिसे उसकी योग्यतानुसार काम लेकर उसकी आव-श्यकतानुसार उपयोग की वस्तुओंका प्रबन्ध करना। समाजके विभिन्न व्यक्तियोंकी आवश्यकताएँ विभिन्न ढंगकी ही होती हैं फिर सबकी आमदनी बराबर कैसे हो? इस तरह समाजके अस्तित्वके लिए श्रमजीवी, बुद्धिजीवी आदि वर्गोंका भी भेद रह ही सकता है।

संपत्तिपर अधिकारके साथ ही स्वतन्त्रता रहती है। किसीकी वैध संपत्ति छीन लेनेसे फिर उसकी स्वतन्त्रता ही क्या रही? अतः वैध संपत्तिपर अधिकार मिटाना उचित नहीं। इसे मानकर ही ऐसी व्यवस्था करना है कि जिसमें सभीके अधिकारोंकी रक्षा हो, सभी एक दूसरेके प्रति अपना कर्तव्य पालन करें, सभीको योग्यता तथा आवश्यकतानुसार काम, दाम, आराम मिले और सभी सन्तुष्ट तथा सुखी रहें।

(सन्मार्गसे उधृत)

संस्कृत की लोकोक्तियाँ

सम्पादक - महेशचन्द्रशास्त्री, विद्याभास्कर, साहित्यरत्न

[गताङ्कसे आगे]

७६ **स्त्रियोऽपि स्त्रैणमवमन्यन्ते** (स्त्रैण का अपमान स्त्रियाँ भी करती हैं)

७७ **न पुष्पार्थी सिञ्चति शुष्कतरुम्** (फूलकी इच्छा रखनेवाला सूखे वृक्षको नहीं सींचता)

७८ **अद्रव्यप्रयत्नो वालुकाक्वाथनादनन्यः** (विना पैसेके कोई भी प्रयत्न रेतके काढेके समान व्यर्थ है)

७९ **न त्वरितस्य नक्षत्रपरीक्षा** (जिसे कार्यकी शीघ्रता है उसे नक्षत्र-परीक्षा करते रहना आवश्यक नहीं है)

८० **स्वयमशुद्धः पराना शंकते** (जो स्वयं दुष्ट मनवाला है उसे दूसरेके विषयमें भी आशंका रहती है)

८१ **स्वभावो दुरतिक्रमः** (स्वभावका बदलना असम्भव है)

८२ **अनुहुंकुरुते घनध्वनिं न तु गोमायुरुतानि केसरी** (सिंह घनगर्जन सुनकर जबाबमें दहाडता है, वह सियारोंकी आवाज सुनकर नहीं बोला करता)

८३ **अनुसृत्य सतां वर्त्म यत्स्वल्पमपि तद्बहु** (सदाचार न छोडते हुए यदि थोडा भी मिले, तो वही बहुत है)

८४ **अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्** (वृक्ष अपने सिरपर सूर्यकी प्रचण्ड धूप लेते हैं; पर आश्रयमें आये हुए जनोंका ताप अपनी छायासे दूर करते है)

८५ **अनार्यजुष्टेन पथा प्रवृत्तानां शिवं कुतः ?** (कुमार्गमें जानेवालेका भला कब हो सकता है ?)

८६ **अनाथा कृच्छ्र पतिता विदेशे स्त्री करोति किम् ?** (यदि कोई अबला विदेशमें असहाय होकर विपत्तिमें पड जाय, तो उसका क्या ठिकाना ?)

८७ **अनपेक्ष्य गुणागुणौ जनः स्वरुचिं निश्चयतोऽनुधावति** (गुणदोषका विचार न करके लोग अपनी रुचिके पीछे ही चलते हैं)

८८ **अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति** (तृणशून्य स्थलमें पडी हुई आग स्वयं ही ठंडी हो जाती है)

८९ **अङ्कमारुह्य सुप्तं हि हत्वा किं नाम पौरुषम् ?** गोदमें सिर रखकर सोये हुए को मारनेमें क्या बहादुरी ?)

९० **अगाधजलसंचारी न गर्वं याति रोहितः** (रोहित महामत्स्य अगाध (समुद्रके) जलमें विचरता हुआ भी अभिमान नहीं करता)

९१ **अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति** (बिना चले गरुड भी एक कदम आगे नहीं बढ सकता)

९२ **कथानुरूपं प्रतिवचनं** (जैसा प्रश्न हो वैसा ही उत्तर देना चाहिये)

९३ **अत्युपचारः शङ्कितव्यः** (अधिक आदर सत्कार होनेपर सन्देह होता है)

९४ **मातृताडितो वत्सो मातरमेवानुरोदिति** (मातासे पीटा गया बालक माताके पास जाकर ही रोता है)

९५ **स्नेहवतः स्वल्पो हि रोषः** (स्नेहीका रोष बहुत टिकनेवाला नहीं होता)

९६ **गौर्दुष्करा श्वसहस्रादेकाकिनी श्रेयसी** (बुरी एक गाय हजार कुत्तोंसे अच्छी)

९७ **वरमद्य कपोतः श्वोमयूरात् संपुष्टात्** (कल मिलनेवाले मोरसे आजका कबूतर अच्छा)

९८ **सर्वं जयत्यक्रोधः** (जिसने क्रोधका त्याग कर दिया वह सब कुछ जीत सकता है)

९९ **नास्त्यपिशाचमैश्वर्यम्** (घोर कर्म किये बिना ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होता)

१०० **नास्ति गतिश्रमो यानवताम्** (जिसके घर वाहन है उसे चलनेका श्रम नहीं होता)

१०१ **अलोहमयं निगडं कलत्रम्** (स्त्री बिना लोहेकी जंजीर है)

१०२ **वैरूप्यमलङ्कारेणाच्छाद्यते** (शरीरकी कुरूपता अलंकारोंसे ढांपी जा सकती है)

१०३ **अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्** ('यह मेरा वह तेरा' की भावना ओछी बुद्धिवालोंमें रहा करती है)

१०४ **अशेषदोष दुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः** (अनेक दोषोंसे दूषित होनेपर भी अपना शरीर किसे प्यारा नहीं लगता)

१०५ **अवसरपठिता वाणी गुणगणरहिताऽपि शोभते पुंसाम्** (उपयुक्त समयमें कही गई गुण रहित बात भी मनुष्यको शोभा देती है)

१०६ **अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते** (अपनेसे निम्न स्थितिकी ओर देखनेपर कौनसे मनुष्यकी महिमा नहीं बढती)

१०७ **अजीर्णे भोजनम् विषम्** (अजीर्ण होनेपर भोजन भी विष बन जाता है)

१०८ **अतिस्नेहपरिष्वङ्गाद् वर्तिरार्द्रापि दह्यते** (गीली बत्ती भी तेलसे खूब सनी होनेपर जलती है)

१०९ **अति सर्वत्र वर्जयेत्** (मर्यादासे अधिक सभी त्याज्य है)

११० **अतिरोषणश्चक्षुष्मानप्यन्ध एव जनः** (अत्यन्त क्रोधी मनुष्य आँखें होता हुआ भी अन्धा ही है)

१११ **अक्के (अर्के) चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्** (यदि आके (आकडेका वृक्ष) में अथवा घरके कोनेमें ही शहद मिल जाय तो पर्वत पर क्यों जावें)

११२ **अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता** (बलवानोंके साथ विरोध करना अति कठिन है)

११३ **औचित्यं गणयति को विशेष-कामः?** (जो अपना मतलब ही गांठना चाहता है, वह उचित-अनुचितका विचार नहीं रखता)

११४ **कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव** (कलियुगमें वेदान्ती लोग इस तरह बकवास करते फिरते हैं, जैसे फागुनमें लडके)

११५ **कल्पवृक्षोऽप्यभव्यानां प्रायो याति पलाशताम्** (कल्पवृक्ष भी भाग्यहीनोंके लिये ढाकका पेड बन जाता है)

११६ **कष्टं निर्धनिकस्य जीवितमहोदारैरपि त्यज्यते।** (ओह ! निर्धन पुरुषकी भी कोई जिन्दगी है ! स्त्री भी धता बता देती है)

११७ **कष्टा हि कुटिलश्वश्रू परतन्त्रवधूस्थितिः** (दुष्ट सासके पंजेमें फंसी हुई बहूकी स्थिति बडी दयनीय हो जाती है)

११८ **कस्य नेष्टं हि यौवनम्?** (तारुण्य किसे अच्छा नहीं लगता)

११९ **कस्त्यागः स्वकुटुम्बपोषणविधावर्थव्ययं कुर्वतः?** (अपने कुटुम्बके पालनमें धन खर्च करना भी कोई 'त्याग' है क्या ?)

१२० **स्त्रीणां भूषणं लज्जा** (विनय स्त्रियोंका भूषण है)

१२१ **सुदूरमपि दहति राजवह्निः** (राजरूपी अग्नि सुदूरास्थित पदार्थोंको भी जला सकती है)

१२२ **जनपदार्थं ग्रामं त्यजेत्** (देशके लिये एक ग्रामका त्याग कर देना चाहिये)

१२३ **अतिलाभः पुत्रलाभः** (पुत्र-लाभ सर्वश्रेष्ठ लाभ है)

१२४ **उपस्थितविनाशः पथ्यवाक्यं न शृणोति** (जिसका विनाशकाल उपस्थित है वह हितकी बात नहीं सुनता)

१२५ **उपकारोऽनार्येष्वकर्तव्यः** (दुष्ट मनुष्योंपर उपकार नहीं करना चाहिये)

१२६ **अग्नावग्निं न निक्षिपेत्** (आगमें और आगकी भरती न डाले)

१२७ **अर्धो घटो घोषमुपैति नूनम्** (आधा भरा हुआ घडा अवश्य छलकता है)

१२८ **अहो दुरतिक्रमा कालगतिः** (समयके फेरसे बचना बडा कठिन है)

परीक्षा-विभाग

धार केन्द्र

धारा केन्द्रे ९. ७. ५१ दिने प्रातः ९ वादन वेलायां प्रमाण-पत्र--वितरण--समारम्भस्सम्मानित । महोत्सवेऽस्मिन्धारा-मण्डल शिक्षानिरीक्षक महोदयाः, भूतपूर्व प्रधानाध्यापकाः **सं. पा. पं. राज्यभूषण बाबू शास्त्री भट** महानुभावाः अन्ये संस्कृतानुरागिणश्च समाहूताः। शिक्षानिरीक्षक महोदयाः कार्य-गौरवाचोपस्थिताः। प्रमाणपत्रवितरणं **पं. बाबू शास्त्री भट महोदयानां** करकमलाभ्यां जातम्। अवसरेऽस्मिन् **पं. सुधाकर शास्त्री** साहित्य ज्योतिष पुराणतीर्थ, साहित्य भूषण, प्रधानाध्यापक संस्कृत पाठशाला धार एषां संस्कृतशिक्षण प्रवृत्तिपरं प्रासङ्गिकं सारगर्भितं च गीर्वाणभाषाया भाषणं जातम्।

प्रमाणपत्र वितरणोत्तरं समाहूत सज्जनानां आतिथ्यसत्कार पुरस्सरं महोत्सवः परिपूर्णतामगात्.

पूर्व खानदेश प्रचार विभाग

भुसावल केन्द्रके प्रमुख कार्यकर्ता **श्री मा. का. बराटे जी** साहित्यप्राज्ञने अपने प्रचार कार्यका ब्यौरा निम्न प्रकारसे भेजा है। (आपने गत जून मासमें संस्कृत भाषा प्रचारार्थ दौरा किया था।) ता० २५ जूनको जलगांवके डॉ० जे. एल. रडेजीसे भेंट की और उनकी अध्यक्षतामें वहाँ केन्द्र खोला गया। ता० २७ जूनको आमोदा गये तथा वहाँके हिन्दीके कार्यकर्ता श्री जगन्नाथ चौधरीसे भेंट करके मराठी स्कूलमें केन्द्र खोला। ता० २७ को श्री परीक्षामन्त्रीजीके भुसावल पधारनेपर वहाँके केन्द्राध्यक्ष श्री हरिरामजी बराटेके निवासस्थानपर प्रचारसम्बन्धि योजनापर विचारार्थ एक बैठक हुई। अगले दिन बाम्हणोद जाकर वहाँके हाईस्कूलके मुख्याध्यापक श्री एम. टी. कोल्हेजीसे भेंट की और केन्द्रकी स्थापना हुई। वहाँसे फैजपूर जाकर डॉ० वामनराव भारंबेजीके निजी भवनपर चर्चा होकर वहाँ केन्द्र स्थापित किया गया। ता० ३० जूनको सावदा होते हुए थोरगव्हाण, यावल, असोदा, भादली आदि पहुँचे; जहाँ केन्द्र स्थापित करनेके आश्वासन प्राप्त हुए।

बलसाड प्रचार विभाग

बलसाडके केन्द्राध्यक्ष **श्री गजानन नरहरिशंकर शास्त्री** काव्यतीर्थ ने जूनके अन्तिम सप्ताहमें बारडोली, वालोड, व्यारा, बगवाडा, धरमपूर आदि स्थानोंका दौरा किया। सूरतमें श्री भीखुभाई खरूपचंदजी शाहके सक्रिय एवं सफल सहयोगके कारण सूरतमें संस्कृत परीक्षाओंके लिये सुन्दर वातावरण तैयार हो गया है। वहाँके जिला राष्ट्रभाषाके मन्त्री श्री नृसिंहरामजी उपाध्यायने केन्द्राध्यक्षके लिये अपनी अमूल्य स्वीकृति दी है तथा अत्यन्त उत्साह एवं आत्मीयतासे यह कार्य आरम्भ कर दिया है। सूरतके श्री याज्ञवल्क्य स. अग्निहोत्रीजी एवं केदारनाथजी रावलका भी अच्छा सहयोग मिल रहा है।

बारडोलीमें स्थानीय हाईस्कूलके प्रधानाध्यापक श्री भीमभाई मोरारजी देसाईने केन्द्राध्यक्षके लिये अपनी स्वीकृति दी तथा श्री नरसिंहभाई जी. पटेल बी. ए. बी. टी. एवं श्री नारायण जी डी. धीमर बी. ए. बी. टी. ने अपना सम्पूर्ण सहयोग देनेका आश्वासन दिया। श्री रामचन्द्रजी शुक्लने भी अपना अमूल्य सहयोग हमें दिया।

वालोड, व्यारा तथा बगवाडाके प्रधानाध्यापकोंने केन्द्राध्यक्ष पदके लिये अपनी स्वीकृति देकर अपना उदात्त सहयोग हमारे कार्यके लिये दिया है तथा इसी प्रकार वहाँके संस्कृत शिक्षकोंका भी पूरा पूरा सहयोग हमें मिल रहा है।

कठोरे केन्द्र

इस केन्द्रमें अच्छा प्रचार कार्य हो रहा है। यहाँके प्रचार वर्गका नाम संस्कृतभाषा परीक्षावर्ग है। प्रचारकका कार्य श्री **वसन्त पाण्डुरंग कुलकर्णी** रा. भा. कोविद निःशुल्क रूपसे कर रहे हैं। वर्ग चालनके लिये सम्पूर्ण व्यवस्था आदि वे स्वयं कर रहे हैं। आपके ही प्रोत्साहनविशेषसे इस कार्यमें सफलता प्राप्त हो रही है। यहाँके स्थानीय विद्वान् **श्री प्रो० टी. एम. सरोदे** B. A. B. T. की अध्यक्षतामें गत परीक्षाओंके प्रमाणपत्र वितरित किये गये। इस अवसरपर अध्यक्ष महानुभावने संस्कृतभाषा प्रचारके सम्बन्धमें अत्यन्त उद्बोधक एवं स्फूर्तिदायक भाषण दिया।

आणंद

पायोनियर हाईस्कूलमें उत्तीर्ण छात्रोंको उनके प्रमाणपत्र उत्तर विभागके सर्वोच्च शिक्षाधिकारी **श्री त्रिवेदी साहबके** कर कमलोंसे वितरित किये गये। छात्रोंको उनकी विशेष योग्यता एवं प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होनेपर बधाई दी गई एवं प्रमुख महोदयने इतर वृत्तियोंमें भाग लेनेको उनको उत्साहित किया। प्रधानाध्यापक **श्री शंकरभाई पटेलने** सूत्रहार एवं आभार प्रदर्शन किया। अन्तमें स्नातक श्री सुबोधचन्द्रजी संस्कृताध्यापकने 'वन्दे मातरम्' गानके पश्चात् उत्सव समाप्तिकी सूचना दी।

आर्य संस्कृतिपर कुठाराघात

('हिन्दुजातिका उत्थान-पतन' पर एक दृष्टि)

लेखक- श्री शिवपूजनसिंहजी 'कुशवाहा' पथिक, कानपुर

(गताङ्कसे आगे)

सायणभाष्यः-' हे (देवाः) इन्द्रादयः! युष्मद्विषये (न कि इनीमसि) न किमपि हिंस्मः, (न कि) न च (योपयामसि) योपयामः, अनुष्ठानेन, अन्यथानुष्ठानेन वा मोहयामः। किंतर्हि? (मन्त्र श्रुत्यम्) मन्त्रेण सार्यं, श्रुतौ विधिवाक्य प्रतिपाद्यं यद् युस्माद्विषयं कर्म, तत् (चरामसि) आचरामः अनुतिष्ठामः॥'

अर्थः—हे इन्द्रादि देवताओ! आपके लिये हम किसी प्रकारकी हिंसा नहीं करते, और सत्कर्मोंके न करने या अन्यथा कर्म करनेसे कर्म-विघात भी नहीं करते। किन्तु आपके उद्देश्यसे जो कर्म करने वेदमें विहित हैं, उन्हीं कर्मोंका हम अनुष्ठान करते हैं।

आचार्य पं० सत्यव्रत जी सामश्रमी, बङ्गालके सुप्रसिद्ध वेदवेत्ता थे। आपने इस उपर्युक्त मन्त्रके भिन्न २ शब्दों पर, विवरणकारकी सम्मतिके रूपमें, जो टिप्पणियाँ × लिखी हैं, वह द्रष्टव्य है। यथाः—

१—टिप्पणी मन्त्रके "इनीमसि" पद पर है, जो कि निम्नलिखित है—" हे देवा! न इनीमसि, प्राणि-वधं कर्म पश्वादियागं न कुर्म इत्यर्थः।" इति विवरणकार मतम्॥

अर्थ—हे देवो! हम "प्राणवध रूपी कर्म" अर्थात् पशु-याग आदि नहीं करते। यह विवरणकारका मत है।

२— दूसरी टिप्पणी मन्त्रके "योपयामसि" पद पर है:—

" इह निखननार्थे द्रष्टव्यः, १यूपनिखननमपि न कुर्मः वृक्षौपध्यादि हिंसामपि न कुर्मः॥" इति विवरणकार मतम्॥

अर्थ--मन्त्रमें "योपयामसि" शब्दकी "युपवानु" इस स्थानमें गाड़ने रूपी अर्थमें है। इसलिए अर्थ यह हुआ कि हम "यूप" + को भी नहीं गाड़ते'। अर्थात् वृक्ष और औषधि आदि की भी हम हिंसा नहीं करते। यह विवरणकारका मत है।

३--तीसरी और चौथी टिप्पणियाँ मंत्रमेंके 'मन्त्र श्रुत्यम् तथा चरामसि' पदों पर दी हैं, जो कि निम्न लिखित हैं:--

"जपाख्यमिति। प्राणिवधं न कुर्मः, जपमेव कुर्मः इत्यर्थः॥ इति विवरणकार मतम्॥

अर्थः--मन्त्रोंमें जिनका विधिरूपमें प्रतिपादन है, ऐसे जपादि कर्मोंको ही हम करते हैं, और प्राणिवध आदि अविहित कर्मोंको नहीं करते।

इस साम-मन्त्र पर सायण-भाष्य, विवरणकार मत तथा आचार्य पं० सत्यव्रत सामश्रमीकी अनुमति इसी पक्षका पोषण कर रहे हैं कि वेदोंमें पशुहिंसा या पशु-भागकी यत्किञ्चित् भी विधि नहीं।

'आलभते' शब्द-व्याख्याः--शास्त्री जी ने चतुर्थ पं० पृष्ठ १४७ में 'आलम्भ' शब्दका अर्थ अमरकोष, आप्टेके कोषके अनुसार मारण या वध करते हैं।

× ये टिप्पणियां, एशियाटिक सोसाइटी, बङ्गाल द्वारा प्रकाशित "सामवेद सायणभाष्य" के सम्पादन क्रममें, उपर्युक्त मन्त्र पर लिखी हैं- लेखक।

+ इस यूपके साथ यज्ञीय पशुको बांधा जाता है--लेखक

आप लिखते हैं......" आलम्भ शब्दके विविध अर्थ होते हुए भी प्रसंगानुसार जो अर्थ ' गोमेध ' शब्दका है वही अर्थ ' गवालम्भ ' शब्दका भी है और वह अर्थ गोवध-परक है। "....

समीक्षा—" आलम्भ " का अर्थ ' मारना ' वाममार्ग कालमें प्रयुक्त हुआ है; तभीसे अन्य २ पुस्तकोंमें इसका प्रयोग होने लगा है।

फिर भी निम्न लिखित ग्रन्थोंमें ' आलम्भ ' का अर्थ स्पर्श ' आता है। यथाः—पारस्कर गृह्यसूत्र उपनयन तथा विवाह प्रकरणमें " हृदयमालभते " आया है। जिसका अर्थ हृदय-स्पर्श है, न कि विद्यार्थी और वधूके हृदय फाड डालनेका सुश्रुत कल्पस्थान अ० १ में " आलभेदस त्रीनः करेण च शिरोरुहान् "। इस वाक्यमें " तीन बार २ हाथसे सिरके बालोंका स्पर्श करता है " यही अर्थ स्पष्ट है। मीमांसा दर्शन अ० २ पा० ३ सू० १७ पर सुबोधिनी टीकाकारने भी—

"वत्सस्य समीपे आनयनार्थं अलंभस्पर्शो भवति"

इस लेख द्वारा आलम्भका स्पर्शार्थकत्व एकदम स्पष्ट कर दिया है। वेदोंमें ' आलम्भ ' का ' वध ' अर्थ कहीं भी प्रयुक्त नहीं है।

' निघण्टु ' वेदोंका कोष है। इसके अ० २, ख० १९ में ' वध ' के अर्थकी वैदिक धातुओंको गिनाया है। उनमें ' आलभते " को नहीं गिनाया। अतः निरुक्तकारकी दृष्टिमें ' आलभते ' पदका अर्थ ' वधकरना ' नहीं है।

इसकी पुष्टि पुराण भी करता है। यथाः—

" यद्घ्राणभक्षो विहितः सुरामाः तथा पशोरालभनं न हिंसा।"

(श्रीमद्भागवत् स्कन्ध ११, अ० ५, श्लो० १३)

अर्थः—जहां सुराभक्षणका विधान है वहां केवल सुराके गन्ध लेने का ही तात्पर्य है, न कि उसके पानका और पशुके आलम्भन की विधिका अभिप्राय पशुकी हिंसा करनेका नहीं है।

अतएव शास्त्रीजीका सिद्धान्त ठीक नहीं है।

इसी " आलम्भन " पर श्री पं० सत्यानन्दजी शास्त्री, साहित्योपाध्याय, एम ए., एम्. ओ. एल्. मासिक पत्र " वैदिक धर्म " वर्ष २७, नवम्बर १९४६ ई. अङ्क ११, पृष्ठ ३८४-३८५-३८६ में लिखते हैं:—

श्रौत ग्रन्थोंके " अग्नीषोमीयं पशुमालभेत " इत्यादि वाक्योंमें अनेक विद्वानोंके विचारसे " आलभ् " धातुका अर्थ " मारना " अर्थात् " जानसे वियुक्त करना " या " वध करना " माना गया है। वास्तवमें " आलभ् " का मुख्यार्थ यह नहीं, अपितु " प्राप्त करना " है। जैसा कि महर्षि पाणिनिने धातुपाठमें ' डुलभष् प्राप्तौ " लिखा भी है। कुछ समय पश्चात् किन्हीं विशेष कारणोंसे गौणावृत्तिद्वारा " वध करना " अर्थमें " आलभ् " धातुका प्रयोग होने लगा। शनैः शनैः यह अर्थ प्रबल होता गया और अब स्थिति यह है कि संस्कृत साहित्य इसी अर्थमें " आलभ् " के प्रयोगोंसे भरा पडा है। जैसे—

आलम्भसमये तस्मिन् गृहीतेषु पशुष्वथ।
महर्षयो महाराज बभूवुः कृपयान्विताः॥

(महाभारत अश्व० पर्व, ९१ वां अध्याय)

[अर्थ–हे महाराज! वधके समय जब पशु पकड लिये गये तो (इस दृश्यको देखकर) आमन्त्रित ऋषि लोग कृपासे द्रवित हो उठे] इस स्थलमें " आलभ् " का अर्थ निश्चितही " वध करना है। "

परन्तु " आलभ् " का मुख्यार्थ " वध करना " कदापि नहीं हो सकता। महर्षि पाणिनिने " डुलभष् प्राप्तौ " अर्थात् यह धातु " प्राप्ति " अर्थमें गिना है। कई विद्वान् कह सकते हैं कि " आङ् " उपसर्गके बलसे " लभ् " का अर्थ " हिंसा " " हनन " या " वध " हो जाता है। पर यह उनकी भूल है। वेदोंमें कई स्थलोंपर " आलभ् " प्रयुक्त हुआ है। वहाँपर कहीं भी हिंसार्थमें इसकी संगति नहीं लगती। जैसे अथर्ववेद ७।१०९।७ में " अक्षान् यद् बभ्रून् आलभे " यह पाठ आया है। यहाँ पर आलभेका अर्थ " स्पर्शद्वारा प्राप्त करना " है। अतः भावार्थ हुआ " मैं बादामी पासोंको छूता हूँ "। यदि यहां " आलभ् " को हिंसार्थक माना जाय तो कदाचित् उपरिलिखित वेदवाक्यका कुछ अर्थही न बन पावेगा। क्योंकि बेजान पासोंका वध करना संभवही कैसे हो सकता है?

इसी प्रकार यजुर्वेद २४।११ में " धूम्रान्वसन्ताय, आलभते श्वेतान् ग्रीष्माय, कृष्णान् वर्षाभ्यो, आरुणान्

शरदे, पृषन्तो हेमन्ताय, पिशंगान् शिशिराय " यह पाठ आता है। यदि उक्त मंत्रमें " आलभ् " धातुका अर्थ " वध करना " लिया जाय तो मंत्रार्थ होगा " वसन्त (ऋतु) के लिये धूम्र रंगवाली और ग्रीष्म (ऋतु) के लिये श्वेत रंगवाली, वर्षा (ऋतु) के लिये काले रंगवाली, शरद् (ऋतु) के लिये लाल रंगवाली, हेमन्त (ऋतु) के लिये चितकबरे रंगवाली और शिशिर (ऋतु) के लिये पीले रंगवाली, वस्तुओंका वध करता है ।" परन्तु इस मंत्रांशसे कुछ आशय खुलता नहीं । इसके विपरीत " आलभ् " का अर्थ यदि " प्राप्ति, " " स्पर्श " या ' प्रयोग करना ' किया जाय तो तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि ग्रीष्म ऋतुमें सफेद कपडोंका प्रयोग तो भौतिक विज्ञानके अनुकूल भी है। वैज्ञानिक लोग मानते हैं कि श्वेत रंगकी वस्तुएँ प्रकाश और गर्मीकी किरणोंको अपने अन्दर जज्ब नहीं करतीं, अपितु लौटा देती हैं। " White colour is bad a observer and good reflector of heat and light " " आलभ् " को इसी अर्थमें लेनेसे मंत्रका गूढ रहस्य समझमें आता है, अतः इसका यह अर्थही युक्तिसंगत है। इसके विपरीत ' वध करना ' इत्यादि अर्थ संगत नहीं।

आगे चलकर यजुर्वेदके ३० वे अध्यायमें पुनः आलभते का प्रयोग आया है। वहाँ पिछले अठारह मंत्रोंकी संगति इकट्ठीही लगती है। इन सबमें केवल एकही क्रियापद " आलभते ' है जो २२ वें मंत्रमें आया है इन सब मंत्रोंको संगति इसी क्रियासे लगती है। यदि ५ वें मंत्रकी संगति " आलभते ' क्रियापदसे लगाई जाये, तो यह मंत्र इस प्रकार बन जायेगा—

'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते' क्षत्राय राजन्यमालभते' इत्यादि, अब इस प्रकरणमें यदि ' आलभ् ' का ' अर्थ वध करना ' किया जाये तो मंत्रार्थ होगा 'ब्रह्म की प्राप्ति) के लिये ब्राह्मणका वध करता है और क्षत्र (राज्य की प्राप्ति) के लिये राजन्य (सैनिक) का वध करता है।' भला क्या कभी ज्ञानी ब्राह्मणको मारकर ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है? नहीं, कदापि नहीं। अतः आलभतेका अर्थ ' वध करना ' न मानकर कुछ और ही किया जाना चाहिये। अब यदि यहाँ आलभ्का अर्थ 'प्राप्ति' या समीप जाना माना जाय तो मंत्रार्थ इस प्रकार होगा— 'ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ब्राह्मणको प्राप्त होता है अर्थात् उसके समीप जाता है ' इत्यादि । यह अर्थ है भी युक्तिसंगत। इस प्रकार वेदमें जहाँ भी ' आलभ् ' का प्रयोग आया है ' वध करना ' इसका अर्थ कहीं भी नहीं लगता। यही तो कारण है कि वैदिक कोष निघण्टुमें जहाँ ' दभ्नोति ' इत्यादि ३३ वधकर्माणः धातुओंका परिगणन किया गया है वहाँ ' आलभ् ' का उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि वैदिक कोष निघण्टुके संकलन-कालतक ' आलभ् ' ने ' वध करना ' इस अर्थको संगृहीत नहीं किया था।

अब प्रश्न उठता है कि यदि प्राचीन वैदिक साहित्यमें ' आलभ् ' का अर्थ ' वध करना ' नहीं है, तो बादमें ' आलभ् ' का यह अर्थ कैसे हो गया? इस गुत्थीको सुलझानेके लिये हम पाठकोंको पुनः यजुर्वेदके ३० वें अध्यायकी ओरही ले जाना चाहते हैं। यहाँपर पिछले १८ मंत्रोंमें १८४ पुरुषोंकी गणना की गई है, जिनके साथ राजाका व्यवहार पडता है। उनमें कइयोंको राजा प्रोत्साहित करता है, ताकि उनके कार्योंसे समाजकी उन्नति हो सके। शेष मनुष्योंको इसलिये यहाँ परिगणित किया गया है ताकि राजा उन्हें दण्डादि देकर सुधार दे या विनष्ट कर दे जिससे कि वे समाजमें कोई दोष न उत्पन्न कर सकें जैसे कि १८ वें मंत्रमें आया भी है ' अन्तकाय गोघातं... आलभते ' इसका अर्थ होगा ' राजा (यम) अर्थात् प्राणदण्डके लिये गोघातकको प्राप्त करें '। यजुर्वेदके इस अध्यायमें इस प्रकारके स्थलोंमें जहां कि समाजके प्रति पाप करनेवालोंकी गणना की गई है और उनके प्रति राजाका दण्डरूपी व्यवहार भी उल्लिखित है, वहाँपर ' आलभ् ' का ' प्राप्ति ' अर्थ दबता जाता है और दण्डभावना प्रबल हो जाती है। वस्तुतः यह है कि वाक्यार्थ-प्राणदण्डको धात्वर्थ समझ लिया गया है और इस तरह ' आलभ् ' काही सीधा अर्थ प्राणदण्ड अर्थात्, ' वध ' समझा जाने लगा। ' आलभ् ' में जो ' लभ् ' धातु है उसका अर्थ प्राप्तिही है। परन्तु इन स्थलोंपर परिगणित पापियोंकी राजाद्वारा केवल प्राप्तिही अभीष्ट नहीं अपितु अभीष्ट यह है कि उन्हें पकडकर दण्ड दिया जाये। अतः ' अन्तकाय गोघातं...... आलभते ' इत्यादि वाक्योंमें

दण्ड=हिंसा=घात=वध, इत्यादिकी भावना प्रबल होती गई। उक्त स्थलसे संगृहीत हिंसाकी भावना 'आलभ्' में धीरे धीरे सर्वत्र संगृहीत होने लगी और यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल हुई कि उत्तरकालीन संस्कृत साहित्यमें 'आलभ्' का मुख्यार्थ 'वध करना' ही हो गया, जैसा कि ऊपर दर्शाया जा चुका है।

मैत्रायणी संहिता १।५।९ में 'वत्समालभते वत्सनि-कान्ता हि पशवः' यह पाठ आया है। काठक संहिता ७।८ में तत्स्थानीय पाठ इस प्रकार है-- 'वत्सं परा हन्ति वत्स-निकान्ता हि पशवः'। इस प्रकारके स्थलोंने भी 'आलभ' को हिंसार्थ अपनानेमें अवश्य सहयता दी होगी। यहाँ 'परा हन्ति' 'आलभते' का पर्याय है। परन्तु वस्तुतः ऐसा तभी हो सकता है यदि 'हन्' धातुका 'गति' (ज्ञान, गमन, प्राप्त) अर्थ ही संगृहीत किया जाय और हिंसा अर्थकी निवृत्ति कर दी जाये। परन्तु दूसरी ओर हुआ यह कि 'हन्' का 'हिंसा' अर्थ प्रगल्भ होता गया। तब अनायासही 'पराहन्ति' पर्यायने 'आलभते' को भी हिंसार्थक बना दिया। नीचे उत्तरकालीन साहित्यसे ऐसे स्थलोंका संग्रह किया गया है जहाँ 'आलभ्' का अर्थ 'वध करना' कदापि युक्तिसंगत नहीं हो सकता। इससे पाठक जान जायेंगे कि 'आङ् पूर्वक लभ् (आलभ्)' धातुका अर्थ 'वध करना' जैसा कि श्रौत ग्रन्थोंमें किया जाता है और जो कि वैदिक यज्ञोंमें पशुबलिका मूलाधार है, कदापि युक्तिसंगत नहीं-

(क) पारस्कर गृह्यसूत्र १।८ में जो विवाहप्रकरण है उसमें हम निम्न वाक्य पाते हैं-

'दक्षिणमंसमधि हृदयमालभते'

[शब्दार्थ-(वह वधूके) दाहिने कन्धेके ऊपरसे हृदयका आलम्भन (स्पर्श) करता है]

इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र १।११, १।१३, २।३, में भी आलभते शब्द आया है। वहाँ भी 'वध करना' इस अर्थमें इसकी संगति नहीं लगती,

(ख) आश्वलायन गृह्यसूत्र १।१५।१ निम्न प्रकार है।

(देखो जातकर्म-संस्कार-प्रकरणमें)

"कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन प्राशयेत्।"

[शब्दार्थ—इसके पूर्व कि नवजात बालकका कोई अन्य आलम्भन (स्पर्श) करे उसे सोनेकी सलाईद्वारा सोनेके पात्रमें रखा हुआ घी और मधु चटाना चाहिये'] इस स्थलमें भी 'आलभ्' का अर्थ 'वध करना' संभव नहीं।

(ग) गोभिल गृह्यसूत्र २।७।२३ इस प्रकार है।

(देखो जातकर्म-संस्कार-प्रकरणमें)

'अत ऊर्ध्वमसमालम्भनमादशरात्रात्'

इसपर श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमीजीने निम्न भाष्य किया है—

अत ऊर्ध्वम्, नाभिकृन्तनात् पुरस्तात्, 'आदश-रात्रात्' दशरात्रविशेषं यावत् 'असमालम्भ-नम्' अस्पर्शनम् कुमारमातुरिष्यशौच विधिः।

यहाँपर श्री. पं. सामश्रमीजीने स्पष्टही आलम्भनका अर्थ स्पर्श किया है।

(घ) आपस्तम्ब धर्मसूत्र प्रश्न २, पटल २, खं. ३ का तृतीय सूत्र इस प्रकार है।

'केशानङ्गं वासश्चालभ्याप उपस्पृशेत्'।

[शब्दार्थ-केश, अंग और कपडेको धूनेके पश्चात् मनुष्यको पानीसे हाथ धोने चाहिये] श्री. उज्ज्वलक उक्त सूत्रपर भाष्य करते हुए 'आलभ्य' शब्दका 'स्पृष्ट्वा' इस प्रकार अर्थ करते हैं।

(ङ) मीमांसा-दर्शनके अ. ३। पा. ३। सू. १७, की टीकामें सुबोधिनीकारने निम्नलिखित वाक्य लिखा है।

'वत्सस्य समीपे आनयनार्थमालम्भः स्पर्शो भवति'।

[शब्दार्थ-बछडेको (गौऊके) समीप लानेके लिये पकडना (स्पर्श करना) आलम्भन कहाता है] इस स्थलमें स्पष्टही आलम्भनको स्पर्श कहा गया है।

(च) आयुर्वेदमें दुरालभा नामक एक औषधिका उल्लेख है। भाषामें उसे जवांह, जवासा, या यवासा, कहते हैं दुस्पर्शा भी उसीका पर्याय है। अतः 'आलभ्' का अर्थ 'स्पर्श करना' यह इन पर्यायवाची शब्दोंसे भी व्यक्त हो जाता है। भावप्रकाश निघण्टु गुडूच्यादि वर्गका २११ वाँ श्लोक इस विषयमें प्रमाण है।

यासो यवासो, दुस्पर्शः धन्वयासः कुनाशकः।
दुरालम्भा दुरालभा समुद्रान्ता च रोदनी।

(६) पूर्व मीमांसा ३।२।१० के भाष्यमें-

'सः (प्रजापतिः) आत्मनो वपामुदखिदत' तै. सं. २।१।१।४ रूपी विषय वाक्यकी व्याख्या करते हुए शबर स्वामीने 'आलम्भ' का अर्थ 'उपयुज्य' इस प्रकार किया है।

इन स्थलोंसे पाठकोंको ज्ञात हो गया होगा कि—

(क) 'आलभ्' (आङ् पूर्वक लभ्) का मुख्यार्थ वध करना (हिंसा) नहीं अपितु प्राप्ति है। जैसा कि महर्षि पाणिनिने अपने धातु-पाठमें निर्दिष्ट किया है।

(ख) वेदोंमें इसी 'प्राप्ति' अर्थमें 'आलभ्' का प्रयोग हुआ है और चारों वेदोंमें हिंसार्थमें मुख्यतया एक स्थानपर भी इसकी संगति नहीं लगती।

(ग) हिंसार्थमें 'आलभ्' का प्रयोग वैदिक समयके पश्चात् आरम्भ हुआ। और इसका मूल यजुर्वेद अध्यायके ३० वें अध्यायके वे स्थल समझने चाहिये जहां कि दण्डार्थे (हिंसार्थे) समाजमेंसे गोघाती इत्यादि दुष्ट पुरुषोंका 'आलम्भन' राजाको करना विधान किया है, जैसा कि हम पीछे लिख आये हैं।

(घ) संहिताओंमें कई स्थलोंपर 'हन्' धातुका प्रयोग 'आलभ्' का समानार्थक मानकर किया है। यह है तो ठीक क्योंकि हिंसाके अतिरिक्त 'हन्' धातुका अर्थ 'गति' भी है, जिसमें प्राप्ति भी समाविष्ट है (गतिके तीन अर्थ माने गये हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति) और इन प्रयोगोंने भी 'आलभ्' को हिंसार्थ ग्रहण करनेमें बडी सहायता दी है। उत्तरकालमें ज्यों ज्यों 'हन्' केवल हिंसार्थमें ही रूढ होता गया त्यों त्यों 'आलभ्' भी हिंसार्थको अधिकाधिक अपनाता गया।

(ङ) अन्तमें जब श्रौत यज्ञोंमें पशुबलिका आविर्भाव हो गया तो 'आलभ्' भी हिंसार्थमें रूढ हो गया।

ब्रह्म साक्षात्कार

(लेखांक २) अध्याय ३

लेखक— श्री गणपतराव वा० गोरे, ३७३ मंगलवार 'बी', कोल्हापूर

◆◆◆◆◆

(गताङ्कसे आगे)

छ—अव्यापारेषु व्यापार न करो!

संध्या हवन करते समय हमारी भावना यदि ऐसी है कि हम ये कार्य निराकार परमात्माकी प्रसन्नताके लिए कर रहे हैं, तो यह वेद विरुद्ध है, यथा—

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रꣳहवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना। प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रꣳहुवेम॥ वा० य० ३४।३४ ऋ० ७।४१।१॥

ऋग्वेदे ऋषिः मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। देवता अग्नीन्द्रमित्रावरुणाश्विभगपूषब्रह्मणस्पतिसोमरुद्राः।

अर्थ— (प्रातः अग्निं प्रातः इन्द्रं हवामहे) प्रातःकाल अग्निकी और प्रातःकाल इन्द्र वा वृष्टिकारक सूर्यकी हवन करके उपासना करते हैं, और (प्रातः मित्रावरुणा प्रातः अश्विना) प्रातःकाल ही प्रातःकालीन तथा सायंकालीन उषा, तथा दिन-रातकी उपासना करते हैं।' (प्रातः भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं) प्रातः काल ही भजन करने योग्य सूर्य, सबके पोषक सूर्य तथा वेदपति सूर्यकी, और प्रातः काल ही (सोमं उत रुद्रं हुवेम) हम चंद्रमा तथा प्राण-धारक सूर्यकी हवन करके उपासना करते हैं॥ ३४॥

भावार्थ— अग्नि, इन्द्र, प्रातः संध्याकी उषाएं, दिन-रात, भग, पूषण, ब्रह्मणस्पति, सोम तथा रुद्र ये सब

सूर्यके ही विविध रूप हैं, और प्रातः काल एक समय हवन करनेसे इन सबकी पूजा एक साथ ही हो जाती है, ऐसा मंत्रका सीधा सादा अर्थ है, अगला मंत्र इसी बातको अधिक स्पष्ट करता है, यथा-

ज-सूर्य ही ईसाइयोंका ईसा है!

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम, वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ॥ वा० य० ३४।३५ ॥ ऋ० ७।४१।२ ॥

अर्थ— (वयं पुत्रम् अदितेः हुवेम) हम अदिति वा उषाके पुत्र सूर्यकी हवनद्वारा उपासना करते हैं, (यः) जो (प्रातःजितम्) प्रातःकालीन विजेता (भगम्) सबका पूज्य और ऐश्वर्यवान् (उग्रम्) दुष्टोंके प्रति भयंकर और (विधर्ता) विविध प्रकारसे सृष्टिका धारण करने हारा है ॥ ३५ ॥

स्पष्टीकरण— वेदमें सूर्यको अदिति वा उषाका पुत्र माना गया है। यह अलंकार है, इसमें लैंगिक संबंध नहीं आता। इस वैदिक अलंकारका अवतरण बाइबलमें और वहांसे कुर्आनमें भी हुआ है, जहां ईसा (वा० य० अध्याय ४० का **ईशा**) को Mary वा मरियम्का कुमारी अवस्थामें उत्पन्न हुआ पुत्र बताया गया है। इस रहस्यको ऋषि दयानन्दने समझा था, कारण सूर्य वा ईसाका विशेषण आध्रः पद जो मंत्रके अगले भागमें आता है, उसका अर्थ ऋषिने निम्न प्रकार किया है-

' आध्रः= अपुत्रस्य पुत्रः [अथवा, अतृप्तस्य पुत्रः इति वा स्यात् ' न्यायादिमें तृप्ति न करनेवालेका पुत्र] ? इति दयानन्द ' ॥ पं० जयदेवकृत यजुर्वेद भाष्यसे ॥

अतः ईशा वा ईसाका कुंवारी मरियमके पेटसे उत्पन्न होना, और अदिति वा उषाके पेटसे आदित्य वा सूर्यका उत्पन्न होना एक ही बात है, और वेद, बाइबल, कुर्आन सम्मत है!

अब जिस प्रकार ईसाई ईसाको मानते हुए भी नहीं पहचानते कि वह सूर्य है, ठीक उसी प्रकार वेदमंत्रोंमें सूर्योपासनाका स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी निराकारवादी इन मंत्रोंमें निराकार परमात्माकी पूजाका विधान है, ऐसा भ्रमसे समझते हैं! फिर भला संध्या हवन सफल हों तो क्यों कर ? ये तो वे वेद विरोधी हैं, जिनकी दिशाभूल हो चुकी है!!

झ-उपासना-उपवास-उपस्थान

उपासनाका अर्थ है (उपवास वा, उपासना वा) उपस्थान, जिसके आपटेके कोशमें अर्थ हैं—

' Presence=विद्यमानता, Nearness=समीपता, Appearance=प्रसिद्धि, Coming into the presence of= किसीके सामने आना, Worshipping= पूजा करना, Waiting upon (with prayers)= किसीकी भेंट करना (प्रार्थनाओंसे) सूर्योपस्थानात्प्रति निवृत्तं पुरूरवसं मामुपेत्य ॥ याज्ञवल्क्य १ ॥ सूर्यस्योपस्थान कुर्वः ॥ विक्रमो० १।२२,३।२८२। '

उपासना— (उप=समीप+आसन=बैठना) है, और **उपस्थान** (उप=समीप+स्थान=जगह लेना) है। उपरोक्त अर्थों और उदाहरणोंसे ' उपासना ' तथा ' उपस्थान ' इन दोनों शब्दोंका अर्थ 'सूर्यके सामने जाना, सूर्य-दर्शन करना, सूर्योपासना करना, सूर्यसे प्रार्थना करना, सूर्यके लिए हवन वा सूर्यपूजा करना ' ऐसा होता है। परन्तु निष्पक्ष कोशकारके इन अर्थोंको वेदोंको माननेवाले निराकार परमेश्वरके भक्त कदापि नहीं मानेंगे। अतः आगे उन्हें वेदसे ही समझाते हैं—

ञ-उपस्थानके मंत्रोंपर विचार

आर्य समाजकी संध्या विधिमें निम्न चार मंत्र उपस्थान के आते हैं—

१. उद्वयं तमसस्परि० ॥वा० य० २०।२१॥देवता सूर्यः॥
२. उदुत्यं जातवेदसं० ॥ ऋ १।५०।१ ॥ देवता सूर्यः ॥
३. चित्रं देवानाम् ॥ ऋ १।११५।१ ॥ देवता सूर्यः ॥ वा० य० ७।४२ ॥
४. तच्चक्षुर्देवहितं ॥ वा० य० ३६।२४ ॥ देवता सूर्यः ॥

वेदने इन चारों मंत्रोंका देवता ' सूर्य ' बताया है, परन्तु आर्य विद्वानोंने वेद विरोध करके इन चारोंका अर्थ निराकार परमात्मापर घटाया है! फिर भला संध्यासे किसी को लाभ हो तो क्यों कर ? अर्थ और विनियोग दोनों मनमाने और लाभकी आशा !

पहले मन्त्रका उत्तरार्ध है—

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

अर्थ— (देवत्रा सूर्यं देवं) इन्द्रियोंके रक्षण करनेवाले सूर्य देवको (उत्तमं ज्योतिः अगन्म) उत्तम ज्योति= प्रकाशको हम प्राप्त करें॥

परन्तु निराकारके उपासक इस सीधे सादे अर्थको नहीं मानते। उन्हें 'उत्तम ज्योति' निराकार परमात्माकी ही स्पष्ट दीखती है, साकार सूर्यकी नहीं!

दूसरा मंत्र अर्थ सहित देखिए–

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ ऋ १।५०।१ ॥

अर्थ— (त्यं जातवेदसं उदुः देवं) उस वेदसंहित उत्पन्न उदय होनेवाले देवको (केतवः वहन्ति) किरणें बढ़ा रही हैं। (विश्वाय सूर्यम् दृशे) विश्वको सूर्य दिखानेके लिए ॥ १ ॥

भावार्थ-जो देव वेदको लेकर उत्पन्न हुआ है, जो प्रतिदिन उदय होता है, उसे किरणें इसलिए सर्वत्र उठाए फिरती हैं कि जीव जगत् उसका दर्शन कर सके ॥ १ ॥

यह मंत्रका सीधा सादा अर्थ भी निराकारवादियोंको मान्य होना संभव नहीं। पाठक उनके अर्थोंकी तुलना कर देखें।

तीसरे मंत्रके अन्तिम शब्द तो विचारवानोंके लिए अत्यंत सूचक हैं, यथा—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥
वा० य० ७।४२ ॥

अर्थ— (जगतः च तस्थुषः) जंगमका और स्थावरका (सूर्यः आत्मा) सूर्य ही अन्तरात्मा है। (स्वाहा) उसी के लिये हवन कीजिए ॥ ४२ ॥

स्पष्टीकरण— यद्यपि ऋषि दयानन्दने पंचमहायज्ञ विधिमें 'प्राणी और जड़ जगतका जो आत्मा है उसको सूर्य कहते हैं' ऐसा सरल अर्थ किया है, तथापि इस अर्थको आज आर्य समाजी नहीं मानते! वेद और ऋषिका विरोध करके भी वे अपने मनमाने निराकार परमात्माको जड़-जंगममें व्यापक समझते हैं, यद्यपि इसी मन्त्रमें वेदने इस विचारका खंडन भी किया है, यथा—

आप्रा द्यावापृथिवी अंतरिक्षं सूर्य ॥ ४२ ॥

अर्थ—(सूर्यः आप्रा द्यावा पृथिवी अंतरिक्षं) सूर्य सब ओरसे धारण करनेवाला है द्युलोक अंतरिक्ष और पृथिवीका ॥ ४२ ॥

ऋषि द० का अर्थ— सूर्य अन्य सब लोकोंको बनाके धारण और रक्षण करनेवाला है।

पं० सातवलेकरका अर्थ— द्युलोक पृथिवी और अंतरिक्ष लोकमें भी जो (आ अप्रा) व्यापक है ॥ ४२ ॥

ऐसे सुस्पष्ट अर्थ होते हुए भी इस मंत्रसे निराकार परमात्माका बोध किस प्रकार लिया जा सकता है, यह समझमें नहीं आता। क्या सूर्य भी दो प्रकारके हैं एक साकार और एक निराकार?

अब चौथा मंत्र देखिए—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम
शरदः शतम्, जीवेम शरदः शत२० ॥
वा० य० ३६।२४ ॥

अर्थ— (तत् देवहितं शुक्रं चक्षुः) वह इन्द्रियोंको हितकारी जगद्बीज नेत्र=सूर्य (पुरस्तात् उत् चरत्) पूर्व दिशासे ऊपर उठ रहा है। (पश्येम शरदः शतम्) हम उसे सौ शीतकाल देखें, (जीवेम शरदः शतं) तो सौ शीतकाल जीते रहें ॥ २४ ॥

स्पष्टीकरण— कितना सरल अर्थ है परन्तु आर्य समाजी इस मंत्रका विनियोग भी निराकार उपासनामें करते हैं! फिर भला संध्या करनेसे किसीको लाभ पहुंचे तो क्यों कर?

चक्षु-ब्रह्म-सूर्य

'ऋषि दयानन्दने पंचमहायज्ञ विधिमें (चक्षुः देवहितं) ब्रह्म सबका द्रष्टा धार्मिक विद्वानोंका परम हितकारक' ऐसा शुद्ध अर्थ किया है, अर्थात् वे 'चक्षुः=ब्रह्म' समझते हैं, जिसे हम साकार सूर्य सिद्ध कर चुके हैं। वेदमें भी 'चक्षुः' का अर्थ 'सूर्य' आया है यथा—

क— ऋ १०।१५८।१-५ का ऋषि चक्षुः सौर्यः और देवता सूर्यः है। यहां 'प्रति पश्येम सूर्यः, विपश्येम नृचक्षसः' विचारिए।

ख— चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥ अ २।१७।६ ॥

अर्थ— हे सूर्य! तू (चक्षुः असि) आंख है (मे चक्षुः दाः) मुझे नेत्रोंकी शक्ति दे। (स्वाहा) मैं तेरे लिए हवन करता हूं ॥ ६ ॥

ग— अ. १९।६७।१-८ का ऋषि ब्रह्मा देवता सूर्य है। इस सूक्तमें सूर्य दर्शनके लाभ (वा० य० ३६।२४ के समान बताए गए हैं।

घ-- ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम्॥
ऋ १०।५९।६॥

अर्थ-- (उत् चरन्तं सूर्यं) उदय होते हुए सूर्यको (ज्योक् पश्येम) हम नित्य देखते रहें॥ ६॥

ङ-- ऋषि अथर्वा। देवता भूमिः।

यावत् तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम्॥
अ० १२।१।३३॥

अर्थ— (भूमे) हे सूर्यदेव! (यावत्) जबतक मैं (सूर्येण) तेरे सूर्य प्रकाशसे (ते मेदिनाः) पृथिवीमें उत्पन्न किए तेरे पदार्थोंको (अभि वि पश्यामि) बारीकीसे देखता रहूं (तावद्) तबतक (उत्तरां उत्तरां समां) बढती बढती आयुमें (मे चक्षुः) मेरी चक्षु आदि इन्द्रियां (मा मेष्ट) क्षीण न हों॥ ३३॥

स्पष्टीकरण-- भूमिरसि॥ वा० य० १३।१८॥
पृथिवी असि॥ वा० य० १।२॥

अर्थ-- हे सूर्य! तू भूमि वा पृथिवी है॥ १८,२॥
ऋषि दयानन्दने भी 'भूमि' का अर्थ परमेश्वर किया है, देखो स० प्र० समु० १. 'भूमि' का अर्थ 'मातृभूमि, स्वदेश भी हैं, परन्तु सूर्यसे सृष्टि उत्पन्न होनेके कारण और प्रलयमें पुनः उसीमें समा जानेके कारण पुनः सूर्य ही आदि-अन्तिम मातृभूमि सिद्ध होता है।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि-
द्विपदस्त्वं चतुष्पदः॥ अ १२।१।१५॥

इस मन्त्रके भी सूर्य परक तथा स्वदेशपरक दोनों प्रकार के अर्थ लगाए जा सकते हैं, परन्तु वेद सम्मत होनेसे, और क से ङ. तकके मंत्रोंसे सुसंगत होनेसे सूर्यपरक अर्थ लगाना ही उचित प्रतीत होता है। मन्त्र ३३ का यही अर्थ वा० य० ३६।२४ आदि अन्य अनेकों मन्त्रोंका भी समर्थन करता है।

इस प्रकार 'खण्ड ११- संध्या हवन सफल क्यों नहीं होते' को क से भ तक १० भिन्न भिन्न दृष्टिकोणोंसे विचारा है। सारांश यही है कि स्वयं वेदको माननेवाले अनजाने वेदका विरोध कर रहे हैं! वेद सूर्योपासना सिखाता है, अतः मंत्रोंसे निराकार उपासनाकी भावना लेना कदापि लाभदायक न होगी। संध्या हवन विधिके नवीन अर्थ करने चाहिए।

उपसंहार

इस अध्याय ३ का शीर्षक है- ओ३म् वा ब्रह्म साकार सूर्यका नाम है, निराकार परमात्माका नहीं! संध्याके मन्त्रोंकी साक्षि।

विषयपर विभिन्न दृष्टिकोणोंसे विचार हो सके, इसलिए अध्यायको निम्न ११ खण्डोंमें विभक्त किया गया है-

खण्ड १-
सब वेद और देव सूर्यमें रहते हैं, निराकार परमात्मामें नहीं।

खण्ड २-
जो पुरुष सूर्यमें है, वही मनुष्यमें है। अहं ब्रह्मास्मि। तत्त्वं असि॥

खण्ड ३-
ब्रह्म नाम साकार सूर्य वा प्राणियोंका है।

खण्ड ४-
'ओ३म्' नाम भी साकार सूर्यका है।

खण्ड ५-
ओ३म् वा ब्रह्मको श्री कृष्ण भी साकार सूर्य ही समझते थे।

खण्ड ६-
ओ३म् वा ब्रह्मको ऋषि दयानन्द भी साकार सूर्य ही समझते थे।

(१ प्रत्यक्ष ब्रह्म। २ प्रसिद्ध उत्तम, सदा उपस्थित परमेश्वर। ३ ओ३म् ईश्वर-जीव-प्रकृति पुञ्ज है। ४ ओम् सच्चिदानन्द स्वरूप है। ५ ओमका अर्थ रक्षा करनेवाला है।)

खण्ड ७-
ओ३म् वा सूर्य ही भूर्भुवः स्वः है, निराकार परमात्मा नहीं।

(आगे मलपृष्ठ ३ देखो)

३	भद्रमिद् भद्रा कृणवत् सरस्वत्यकवारी चेतति वाजिनीवती । गृणाना जमदग्निवत् स्तुवाना च वसिष्ठवत्	७६३
४	जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः । सरस्वन्तं हवामहे	७६४
५	ये ते सरस्व ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः । तेभिर्नोऽविता भव	७६५
६	पीपिवांसं सरस्वतः स्तनं यो विश्वदर्शतः । भक्षीमहि प्रजामिषम्	७६६

[३] (७६३) (भद्रा सरस्वती भद्रं इत् कृणवत्) कल्याण करनेवाली सरस्वती निःसंदेह कल्याण करती हैं। तथा (अकवारी वाजिनीवती चेतति) सीधी जानेवाली और अन्नदेनेवाली यह सरस्वती हमारे अन्दर चेतना उत्पन्न करे, प्रज्ञा बढावे। (जमदग्निवत् गृणाना) जमदग्नि ऋषिके द्वारा प्रशंसित होनेके समान (वसिष्ठवत् च स्तुवाना) वसिष्ठके योग्य स्तुतिसे प्रशंसित हो।

सरस्वती कल्याण करनेवाली है वह सबका कल्याण करे। यहां सरस्वती नदी भी है और विद्या भी समझनी योग्य है। जैसी सरस्वती नदी अन्नादि द्वारा कल्याण करती है वैसी विद्या भी मानवोंका कल्याण करती है।

(वाजिनीवती) अन्न देनेवाली सरस्वती नदी भी है और विद्या भी अन्न तथा धन देती है। (अ-कवारी) यह सीधा उन्नतिका मार्ग बताती है। टेढी चालसे चलनको रोकती है।

जमदग्नि (जमत्-अग्नि) जो अग्निको प्रदीप्त करता है। **वासिष्ठ** (वासयति) जो निवास कराता है। इस वसिष्ठके मन्त्रमें जमदग्निका नाम आनेसे जमदग्निका पूर्वकालमें होना इतिहास पक्षवालोंकी दृष्टिसे सिद्ध होता है।

पुत्रकी इच्छा

[४] (७६४) (जनीयन्तः) पत्नीवाले (पुत्रीयन्तः) पुत्रकी कामना करनेवाले (सुदानवः अग्रवः) उत्तम दान देनेवाले हम अग्रेसर होकर (सरस्वन्तं हवामहे) सरसवान् समुद्र देवकी विद्वानकी प्रशंसा गाते हैं।

विवाह करके पत्नीवान् बनो, सुपुत्रकी इच्छा करो, बहुत दान दो, अपने राष्ट्रमें अग्रभागमें रहकर कार्य करो और ज्ञानीकी सेवा करो। 'सरस्वान्' का अर्थ 'समुद्र' है। यह नदियोंका पति है। सरस्वती नदी है, सरस्वती विद्या भी है। जो महा विद्वान् होता है वह इस कारणसे विद्याका समुद्र हो है।

[५] (७६५) हे (सरस्वः) समुद्र देव! (ये ते ऊर्मयः) जो तुम्हारी लहरियाँ (मधुमन्तः घृतश्चुतः) मीठी और घीवाली हैं, (तेभिः नः अविता भव) उनसे हमारे संरक्षक बनो।

सरस्वान्का अर्थ समुद्र है और महाज्ञानी भी है। विद्याकी नदियां इसके हृदयमें आकर मिलती हैं। इसके हृदयकी जो उर्मियां हैं वह ऊमियों मधुरिमाको प्रकट करनेवाली और घीके समान स्नेहको फैलानेवालीं हों। विद्याके समुद्रके येही कर्तव्य हैं।

[६] (७६६) (यः विश्वदर्शतः) जो विश्वका दर्शन कराता है, उस (सरस्वतः पपिवांसं स्तनं) सरस्वान्-समुद्रके परिपुष्ट स्तनका हम पान करते हैं और (प्रजां इषं भक्षीमहि) सुप्रजा तथा अन्न प्राप्त करते हैं।

सरस्वान् = समुद्र, महाज्ञानी, मेघ। इसका स्तन वर्षा करनेवाला मेघ (मेघपक्षमें), महाज्ञानीके पक्षमें ज्ञानरस देनेवाला उसका हृदय, समुद्रके पक्षमें नदीके मीठे जलका स्रोत।

ये तीनों मंत्र समुद्रका वर्णन करते हुए साथ साथ महा ज्ञानीका वर्णन कर रहे हैं। इस सूक्तमें जो नदीका वर्णन है वह विद्याका वर्णन है। इस तरह इस सूक्तका अर्थ जाननेका यत्न करना योग्य है।

(९७) १० मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । १ इन्द्रः; २, ४-८ बृहस्पतिः; ३, ९ इन्द्राब्रह्मणस्पती, १० इन्द्राबृहस्पती । त्रिष्टुप् ।

१ यज्ञे दिवो नृषदने पृथिव्या नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
इन्द्राय यत्र सवनानि सुन्वे गमन्मदाय प्रथमं वयश्च ७६७

२ आ दैव्या वृणीमहेऽवांसि बृहस्पतिर्नो मह आ सखायः ।
यथा भवेम मीळ्हुषे अनागा यो नो दाता परावतः पितेव ७६८

३ तमु ज्येष्ठं नमसा हविर्भिः सुशेवं ब्रह्मणस्पतिं गृणीषे ।
इन्द्रं श्लोको महि दैव्यः सिषक्तु यो ब्रह्मणो देवकृतस्य राजा ७६९

इन्द्र और बृहस्पति

[१] (७६७) (यत्र देवयवः नरः मदन्ति) जहां देवत्वकी प्राप्ति करनेवाले नेता लोग आनंदित होते हैं, (यत्र इन्द्राय सवनानि सुन्वे) जहां इन्द्रके लिये सोमका रस निकालते हैं । वहां (पृथिव्याः नृषदने यज्ञे) पृथ्वी परके मनुष्योंका कल्याण करनेके यज्ञ स्थानमें (दिवः प्रथमं मदाय गमत्) द्युलोकसे सबसे प्रथम इन्द्र आनंदित होनेके लिये आवे और (वयः च) उसके शीघ्रगामी घोडे भी आजांये ।

पृथ्वीपर यज्ञका स्थान ऐसा है कि जो सब मानवोंका कल्याण करता है। वहां दैवी भावको अपनानेका यत्न करनेवाले लोग एकत्रित होते हैं। सोमरस निकालते हैं, वहां द्युलोकसे इन्द्र आता है और अपने घोडोंवाले रथमें बैठकर अति शीघ्र वहां पहुंचता है । जहां यज्ञ होता है वहां लोगोंका हित करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष अवश्य जांय ।

[२] (७६८) हे (सखायः) मित्रो ! हम (दैव्या अवांसि आवृणीमहे) दिव्य संरक्षणोंको प्राप्त करना चाहते हैं । (नः बृहस्पतिः आ महे) हमारे यज्ञका बृहस्पति स्वीकार करे । (यः परावतः पिता इव नः दाता) जो बृहस्पति दूरदेशसे पिता पुत्रोंको धन देता है उस तरह हमें धन देता है । उस (मीळ्हुषे यथा अनागाः भवेम) सुखदायी बृहस्पतिके सन्मुख हम जिस तरह निष्पाप होकर जांय वैसा आचरण करो ।

१ दैव्या अवांसि आवृणीमहे— रक्षण करनेके दिव्य साधन प्राप्त करने चाहिये । उत्तमसे उत्तम साधन अपने संरक्षण करनेके लिये अपने पास सिद्ध रखने चाहिये ।

२ पिता इव बृहस्पतिः अवांसि नः दाता— जिस तरह पिता पुत्रोंको धनादिका दान देता है, उस तरह ज्ञानका स्वामी ज्ञानी संरक्षणके,उपायोंका हमें प्रदान करता है । इसलिये ज्ञानीके पास जाकर अपने संरक्षण करनेके साधनोंका ज्ञान तथा उनके बर्तनेकी विद्या प्राप्त करनी चाहिये ।

३ बृहस्पतिः परावतः दाता— ज्ञानी यह ज्ञान दूरसे भी देता है । ऐसे उपाय किये जा सकते हैं कि यह ज्ञान सुदूर देशसे भी लेनेवालेको मिल जाय ।

४ मीळ्हुषे अनागाः भवेम— इस सुख देनेवाले ज्ञानीके पास हम निष्पाप, निर्दोष, प्रमाद रहित होकर जांय । प्रमाद करनेवालेको यह ज्ञान लाभदायी नहीं हो सकता ।

[३] (७६९) (तं ज्येष्ठं सुशेवं ब्रह्मणस्पतिं) उस श्रेष्ठ सेवा करने योग्य ज्ञान पतिकी (हविर्भिः नमसा गृणीषे) हवनों और नमस्कारोंके साथ स्तुति गाता हूँ । (महि इन्द्रं दैव्यः श्लोकः सिषक्तु) महान् इन्द्रकी यह दिव्य श्लोक-मन्त्र—सेवा करे । गुणगान करे । (यः देवकृतस्य ब्रह्मणः राजा) यह इंद्र देवके द्वारा किये स्तोत्रका राजा है, अधिकारी है ।

देवकृत मन्त्र, श्लोक और ब्रह्म

इस मंत्रमें ' देव-कृतस्य ब्रह्मणः ' ' दैव्यः श्लोकः ' ये दो मन्त्रभाग हैं । इनसे स्पष्ट हो रहा है कि ये जो वेदके मन्त्र या स्तोत्र हैं, जिनको ' ब्रह्म ' भी कहा जाता है, वे ' देव-कृत ' हैं अतः वे ' दैव्य ' हैं । जो मुख्य परमात्मदेव है वही मुख्य देवाधिदेव है । उसके बनाये ये ' मन्त्र, ब्रह्म, श्लोक ' हैं । ये दोनों मन्त्रभाग मुख्य हैं । और वेदमंत्रोंका विष्य स्फुरण कहांसे होता है इसका स्पष्ट निर्देश यहां दर्शाया है ।

४ स आ नो योनिं सदतु प्रेष्ठो बृहस्पतिर्विश्ववारो यो अस्ति ।
कामो रायः सुवीर्यस्य तं दात् पर्षन्नो अति सश्चतो अरिष्टान् ७७०

५ तमा नो अर्कममृताय जुष्टमिमे धासुरमृतासः पुराजाः ।
शुचिक्रन्दं यजतं पस्त्यानां बृहस्पतिमनर्वाणं हुवेम ७७१

६ तं शग्मासो अरुषासो अश्वा बृहस्पतिं सहवाहो वहन्ति ।
सहश्चिद् यस्य नीलवत् सधस्थं नभो न रूपमरुषं वसानाः ७७२

७ स हि शुचिः शतपत्रः स शुन्ध्युर्हिरण्यवाशीरिषिरः स्वर्षाः ।
बृहस्पतिः स स्वावेश ऋष्वः पुरू सखिभ्य आसुतिं करिष्ठः ७७३

[४] (७७०) (प्रेष्ठः सः बृहस्पतिः नः योनिं आ सदतु) वह श्रेष्ठ ज्ञानपति हमारे यज्ञस्थानमें आकर बैठे। (यः विश्ववारः अस्ति) जो सबके द्वारा स्वीकार करने योग्य है। (सुवीर्यस्य रायः कामः तं दात्) उत्तम वीर्य युक्त धनकी जो हमारी अभिलाषा है उसको वह पूर्ण करता है। तथा वह (नः सश्चतः अरिष्टान् अतिपर्षत्) हमारे ऊपर आये उपद्रवोंसे हमें पार करे, हमारे शत्रुओंको वह हमसे दूर करे।

१ नः सुवीर्यस्य रायः कामः— हमारी इच्छा यह है कि हमें उत्तम पराक्रम करनेकी शक्ति प्राप्त हो और वीरता युक्त धन हमें मिले। यह हमारी इच्छा सफल हो जाय।

२ नः सश्चतः अरिष्टान् अतिपर्षत्— हमारे ऊपर आये दुःख दूर हों।

३ प्रेष्ठः बृहस्पतिः नः योनिं आसदतु— श्रेष्ठ ज्ञानपति हमारे यज्ञमें आकर आसन पर बैठे। और हमें संरक्षणके सब साधन देवे।

[५] (७७१) (तं अमृताय जुष्टं अर्कं) उस अमरत्वके लिये सेवन करने योग्य पूजनीय अन्नको (इमे पुराजाः अमृतासः) ये प्राचीन कालसे प्रसिद्ध अमर देव (नः आ धासुः) हमें देवें। हम (शुचिक्रन्दं पस्त्यानां यजतं) शुद्धताके लिये प्रशंसित, गृहस्थियोंके लिये पूजनीय (अनर्वाणं बृहस्पतिं हुवेम) पीछे न हटनेवाले बृहस्पतिकी स्तुति गाते हैं।

*

१ अमृताय जुष्टं अर्कं अमृतासः नः आधासुः— मृत्युको दूर करनेवाले सेवनीय अन्नको हमें ये देव देते हैं। योग्य अन्न खानेसे मृत्यु दूर हो सकता है।

२ अनर्वाणं बृहस्पतिं हुवेम— कदापि पीछे न हटनेवाले ज्ञानीकी हम प्रशंसा गाते हैं। वीर पीछे हटनेवाला न हो।

[६] (७७२) (शग्मासः अरुषासः) सुखदायी तेजस्वी (सहवाहः अश्वाः) साथ रहकर वहन करनेवाले घोडे (तं बृहस्पतिं वहन्ति) उस ज्ञान पतिको वहन करते हैं। (यस्य सहः चित्) जिसका बल विशाल है, (यस्य नीलवत् सधस्थं) जिसका निवास स्थान निवासके लिये सुयोग्य है। जिसके घोडे (नभः अरुषं रूपं वसानाः) आदित्यके समान तेजस्वी रूप धारण करते हैं।

उत्तम रहन सहन

[७] (७७३) (सः हि शुचिः शतपत्रः) वह शुद्ध है और बहुत प्रकारके वाहन अपने पास रखने वाला है। (सः शुन्ध्युः हिरण्यवाशीः) वह शुद्धि करनेवाला और सुवर्ण जैसे आयुधोंवाला है। वह (इषिरः स्वर्षाः) प्रगतिशील और आत्मतेज देनेवाला है। (सः बृहस्पतिः स्वावेशः ऋष्वः) वह बृहस्पति उत्तम निवासस्थानवाला और दर्शनीय सुन्दर है। वह (सखिभ्यः पुरु आसुतिं करिष्ठः) मित्रोंके लिये बहुत अन्न देता है।

वीर स्वयं शुद्ध रहे, अनेक वाहन पास रखे, अन्योंको शुद्ध बनावे, उत्तम शस्त्र अपने पास रखे, प्रगति करता रहे, स्वकीय शक्तिसे आगे बढे, उत्तम निवास स्थानमें रहे, सुंदर वस्त्र आभू-

८	देवी देवस्य रोदसी जनित्री बृहस्पतिं वावृधतुर्महित्वा । दक्षाय्याय दक्षता सखायः करद् ब्रह्मणे सुतरा सुगाधा	७७४
९	इयं वां ब्रह्मणस्पते सुवृक्तिर्ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे अकारि । अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीर्जजस्तमर्यो वनुषामरातीः	७७५
१०	बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य । धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः	७७६

(९८) ७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः, ७ इन्द्राबृहस्पती । त्रिष्टुप् ।

१	अध्वर्यवोऽरुणं दुग्धमंशुं जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम् । गौराद् वेदीयाँ अवपानमिन्द्रो विश्वाहेद् याति सुतसोममिच्छन्	७७७

षण धारण करके अपनी शोभा बढावे और अपने मित्रोंको उत्तम अन्न देता रहे ।

वीरोंको इस तरह रहना चाहिये । निस्तेज हीन दीन दुर्बल रहना उचित नहीं है ।

[८] (७७४) (देवस्य जनयित्री देवी रोदसी) बृहस्पति देवकी जननी द्यौ और पृथिवी ये देवता हैं । (महित्वा बृहस्पतिं ववृधतुः) महिमासे युक्त बृहस्पतिको ये बढाती हैं । हे (सखायः) मित्रो ! (दक्षाय्याय दक्षत) बलके योग्य बृहस्पतिको बलके साथ बढाओ । वह (ब्रह्मणे) ज्ञान और अन्नके संवर्धन के लिये (सुतरा सुगाधा करत्) जलको तैरने योग्य और स्नानके योग्य पर्याप्त प्रमाणमें करता है ।

[९] (७७५) हे ब्रह्मणस्पते ! तुम्हारे लिये और (वज्रिणे इन्द्राय) वज्रधारी इन्द्रके लिये अर्थात् (वां) तुम दोनोंके लिये (इयं सुवृक्तिः ब्रह्म अकारि) यह उत्तम वचन युक्त स्तोत्र किया है। (धियः अविष्टं) हमारे बुद्धि युक्त कर्मोंका संरक्षण करो, (पुरंधीः जिगृतं) बहुत प्रकारकी बुद्धिका श्रवण करो और (वनुषां अर्यः अरातीः जजस्तं) भक्तोंके शत्रुओंकी सेनाओंका विनाश करो ।

१ धियः अविष्टं— बुद्धिका संरक्षण करो, बुद्धिपूर्वक योजना पूर्वक किये कर्मोंका संरक्षण करो ।

२ पुरंधीः जिगृतं— विशाल बुद्धिकी प्रशंसा करो ।

३ वनुषां अर्यः अरातीः जजस्तं— मित्रोंके शत्रुओंकी सेनाओंका नाश करो । अपने मित्रोंके जो शत्रु हैं वे अपने ही शत्रु हैं अतः उनका नाश करना योग्य है ।

[१०] (७७६) हे बृहस्पते ! तू और इन्द्र ! तुम दोनों (दिव्यस्य वस्वः ईशाथे) द्युलोकमें उत्पन्न धनके तुम स्वामी हो । (उत पार्थिवस्य) और पृथ्वीपर उत्पन्न हुए धनके भी तुमही स्वामी-हो । (स्तुवते कीरये चित् रयिं धत्तं) स्तुति करनेवाले कविके लिये धन दो । (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात) तुम कल्याणके साधनोंसे सदा हमारी सुरक्षा करो ।

[१] (७७७) हे (अध्वर्यवः) अध्वर्युओ ! (क्षितीनां वृषभाय) मानवोंमें अधिक बलिष्ठ ऐसे इन्द्रके लिये (अरुणं दुग्धं अंशुं जुहोतन) तेजस्वी दुहे हुए सोमरसका हवन करो । (अवपानं गौरात् वेदीयान् इन्द्रः) पीने योग्य रसको गौरमृग से भी दूरसे जाननेमें समर्थ इन्द्र (सुतसोमं इच्छन्) सोम याग करनेवालेकी इच्छा करता हुआ (विश्वहा इत् याति) सर्वदा उसके पास जाता है ।

२	यद् दधिषे प्रदिवि चार्वन्नं दिवेदिवे पीतिमिदस्य वक्षि । उत हृदोत मनसा जुषाण उशन्निन्द्र प्रस्थितान् पाहि सोमान्	७७८
३	जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच । एन्द्र पप्राथोर्व१न्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ	७७९
४	यद् योधया महतो मन्यमानान् त्साक्षाम तान् बाहुभिः शाशदानान् । यद् वा नृभिर्वृत इन्द्राभियुध्यास्तं त्वयाजिं सौश्रवसं जयेम	७८०

[२] (७७८) हे इन्द्र! (प्रदिवि चारुं अन्नं दधिषे) पूर्व समयमें सुंदर अन्न रूप सोमरसका तुम अपने उदरमें धारण करते हैं, (दिवे दिवे अस्य पीतिं वक्षि इत्) प्रतिदिन उसके पान-की तुम इच्छा करते ही हो। (उत हृदा उत मनसा) हृदयसे और मनसे (जुषाणः उशन्) उसका सेवन करके हमारी इच्छा करके (प्रस्थि-तान् सोमान् पाहि) यहां रखे हुए सोम रसोंका पान करो।

[३] (७७९) हे इन्द्र! तुम (जज्ञानः सहसे सोमं पपाथ) उत्पन्न होते ही बल बढानेके लिये सोम पीते हो। (माता ते महिमानं प्र उवाच) माता तुम्हारी महिमाका वर्णन करती है। (उरु अन्तरिक्षं आ पप्राथ) विस्तीर्ण अन्तरिक्षको तुमने अपने तेजसे भर दिया। और (युधा देवेभ्यः वरिवः चकर्थ) युद्ध करके देवोंके लिये तुमने धन भी उत्पन्न किया था।

बालपनमें इन्द्रने बल बढाया, अपने तेजसे जगतको तेजस्वी बनाया और तरुण होते ही युद्धमें शत्रुओंका पराभव करके बहुत धन प्राप्त किया।

युद्धमें विजय पाना

[४] (७८०) हे इन्द्र! (महतः मन्यमानान् यत् योधयाः) अपने आपको बहुत बडे करके माननेवाले शत्रुओंके साथ जब तुम्हारा युद्ध हुआ (तान् शाशदानान् बाहुभिः साक्षाम) उन हिंसक शत्रुओंका हम अपने बाहुओंसे ही प्रतीकार करेंगे। (यत् वा नृभिः वृतः अभियुध्याः) जिस समय तुम वीरोंके साथ रहकर शत्रुसे युद्ध करोगे उस समय (त्वया तं सौश्रवसं आजिं जयेम) तुम्हारे साथ हम रहेंगे और उस यश बढाने-वाले युद्धको जीतेंगे। हम विजय प्राप्त करेंगे।

यह मंत्र वसिष्ठ ऋषि बोल रहा है और इसमें कहा है कि-

१ त्वया तं सौश्रवसं आजिं जयेम-- हम सब वासिष्ठ गोत्रके लोग, इन्द्रके साथ युद्धमें रहेंगे और यश देनेवाले उस संग्राममें हम विजयी होंगे। ये ऋषि युद्धमें जानेके लिये तैयार थे और राक्षसोंके साथ युद्ध करके विजय तथा यश पाने-वाले थे। ऋषियोंका यह सामर्थ्य था।

२ महतः मन्यमानान् योधयाः-- बडे घमंडी शत्रुओंके साथ तुम युद्ध करते हो उस समय तुम्हारे साथ हम भी रहेंगे और-

३ तान् शाशदानान् बाहुभिः साक्षाम-- उन हिंसक शत्रुओंका पराभव हम अपने बाहुओंके बलसे करेंगे और विजयी होंगे। यह ऋषिवाक्य है। इससे सिद्ध होता है कि ऋषियोंके बाहुओंमें भी कैसा बल होता था। ऋषि निर्बल नहीं थे। वे किसी समय युद्ध नहीं भी करते थे, पर वे निर्बल नहीं थे।

४ यत् नृभिः वृतः अभियुध्याः-- जिस समय इन्द्र अपने सैनिक वीरोंके साथ युद्धमें लडता है उस समय उसके साथ ये ऋषि भी युद्धमें जाते थे और लडते थे।

इस तरह बल प्राप्त करना चाहिये। विद्याका ज्ञानबल और शरीरका लडनेका बल ये दोनों बल ऋषियोंके पास थे। यह उनका महत्त्व है।

५	प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार । यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत् केवलः सोमो अस्य	७८१
६	तवेदं विश्वमभितः पशव्यं१ यत् पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य । गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः	७८२
७	बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य । धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः	७८३

(९९) ७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विष्णुः, ४-६ इन्द्राविष्णू । त्रिष्टुप् ।

१	परो मात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति । उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या विष्णो देव त्वं परमस्य वित्से	७८४
२	न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप । उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः	७८५

---

[५] (७८१) (इन्द्रस्य प्रथमा कृतानि प्रवोचं) इंद्रके पूर्व समयमें किये पराक्रमोंका मैं वर्णन करता हूं । (या नूतना मघवा चकार) जो नूतन पराक्रम धनवान् इन्द्रने किये उनका भी मैं वर्णन करता हूं । (यदा इत् अदेवीः मायाः असहिष्ट) जिस समय आसुरी कुटिल कपटी आक्रमणोंको उसने परास्त किया (अथ केवलः सोमः अस्य अभवत्) तबसे केवल सोम इसी के लिये मिलने लगा है ।

वीरतासे संमान

अदेवीः मायाः असहिष्ट— जब राक्षसोंके कपटी हमलोंका पराभव किया तबसे (अस्य केवलः सोमः अभवत्) तबसे इसका सोमपर प्रथमाधिकार मान्य हुआ । अर्थात् इस तरह वीरता किये विना किसीका संमान बढ नहीं सकता ।

[६] (७८२) हे इन्द्र ! (इदं विश्वं पशव्यं तव इत्) यह सब विश्व जो सब पशुओंके लिये हितकारी है वह तुम्हारा ही है । (यत् सूर्यस्य चक्षसा पश्यति) जो सूर्यके तेजसे दीखता है । तूं (गवां एकः गोपतिः असि) तू गौओंका एक ही गोपाल है अतः (ते प्रयतस्य वस्वः भक्षीमहि) तुम्हारे दिये धनका भोग हम करेंगे ।

[७] (७८३) यह मंत्र ७७६ के स्थानपर है । वहां इसका अर्थ पाठक देखें ।

इन्द्र और विष्णु

[१] (७८४) (परः मात्रया तन्वा वृधान विष्णो) हे अपने श्रेष्ठ शरीरसे बढनेवाले विष्णो ! (ते महित्वं न अनु अश्नुवन्ति) तुम्हारी महिमाको कोई जान नहीं सकता । (ते उभे पृथिव्याः रोदसी विद्म) तुम्हारे दोनों लोक पृथिवी और अन्तरिक्षको हम जानते हैं । परंतु हे देव ! तुम तो (त्वं परमस्य वित्से) परम लोक को भी जानते हो ।

[२] (७८५) हे विष्णु देव ! (ते महिम्नः परं अन्तं) तेरी महिमाका परम अन्तिमभाग (न जायमानः न जातः आप) न तो जन्म लेनेवाले नाहीं जिन्होंने जन्म लिया है वे जानते हैं । (ऋष्वं बृहन्तं नाकं उत् अस्तभ्नाः) दर्शनीय विशाल ऐसे इस द्युलोकको तुमने ऊपर ही स्थिर किया है । तथा (पृथिव्याः प्राचीं ककुभं दाधर्थ) तुमने पृथिवी की पूर्व दिशाका भी धारण किया है ।

३	इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनुषे दशस्या ।	
	व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः	७८६
४	उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम् ।	
	दासस्य चिद् वृषशिप्रस्य माया जघ्नथुर्नरा पृतनाज्येषु	७८७
५	इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम् ।	
	शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान्	७८८
६	इयं मनीषा बृहती बृहन्तोरुक्रमा तवसा वर्धयन्ती ।	
	ररे वां स्तोमं विदथेषु विष्णो पिन्वतमिषो वृजनेष्विन्द्र	७८९
७	वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम् ।	
	वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः	७९०

[३] (७८६) हे द्यावा पृथिवी! (मनुष्ये दशस्या) मनुष्योंका हित करनेकी इच्छासे तुम (इरावती धेनुमती सुयवसिनी) अन्नवाली, गौओंवाली तथा जौवाली (हि भूतं) हुई हो। हे विष्णो! (एते रोदसी वि अस्तभ्नाः) तुमने इन द्युलोक तथा पृथिवीलोकको धारण किया है तथा (मयूखैः पृथिवीं अभितः दाधर्थ) पर्वतोंसे पृथिवी को स्थिर किया है।

[४] (७८७) (यज्ञाय उरुं लोकं चक्रथुः उ) यज्ञके लिये तुमने विस्तृत स्थान बनाया है। सूर्य उषा और अग्निको तुम दोनों (जनयन्तौ) उत्पन्न करते हो। हे (नरा) नेताओ! हे इन्द्र और विष्णु! (वृषशिप्रस्य दासस्य चित्) बलवान् और सुरक्षित शत्रुकी (मायाः पृतनाज्येषु जघ्नतुः) कुटिल कपटी आक्रमक योजनाओंको युद्धोंमें तुमने विनष्ट किया।

यज्ञके लिये विस्तृत कार्य क्षेत्र बनाना चाहिये और शत्रुकी कुटिल योजनाओंका संपूर्णतया विनाश करना चाहिये।

[५] (७८८) हे इन्द्र और विष्णु! तुमने (शंबरस्य दृंहिताः नव नवतिं च पुरः श्नथिष्टं) शंबर असुरकी नौ और नब्बे सुदृढ पुरियोंका विनाश किया। और (वर्चिनः असुरस्य) वर्चस्वी असुर की (शतं सहस्रं च वीरान्) सौ और हजारों वीरोंको (अप्रति साकं हथः) अप्रतिमरीतिसे तुम ने मारा।

१ शंबरके ९९ सुदृढ किलोंको तोड दिया और

२ असुरके सैंकडों और हजारों वीरोंको ऐसा मारा कि जिसके लिये कोई उपमा ही नहीं है।

[६] (७८९) (इयं बृहती मनीषा) यह बडी भारी मनन पूर्वक की स्तुति है। यह (बृहन्ता उरुक्रमा तवसा वर्धयन्ती) बडे महापराक्रमी और बलवान् ऐसे इन्द्र और विष्णुका यश बढाती है। हे इन्द्र और विष्णु! (विदथेषु वां स्तोमं ररे) यज्ञोंमें आपका स्तोत्र गानेके लिये देता हूं। (वृजनेषु इषः पिन्वतं) युद्धोंमें तुम हमारा अन्न बढाओ।

युद्धके समय अधिक अन्नका उत्पादन करो

विदथेषु वृजनेषु इषः पिन्वतं— युद्धोंमें अन्नको बढाओ। युद्धके समय सब लोग युद्धके कार्योंमें लगे रहते हैं और अन्नका उत्पादन नहीं होता। इसलिये युद्धके समय ही अन्नका अधिक उत्पादन करना चाहिये।

[७] (७९०) हे विष्णो! (ते आसः वषट् आ कृणोमि) तुम्हारे लिये मुखसे मैंने वषट् किया है। वषट् बोल कर अन्नका अर्पण किया है। हे (शिपिविष्ट) तेजवाले विष्णु! (तत् मे हव्यं जुषस्व)

(१००) ७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विष्णुः । त्रिष्टुप् ।

१	नू मर्तो दयते सनिष्यन् यो विष्णव उरुगायाय दाशत् ।	
	प्र यः सत्राचा मनसा यजात एतावन्तं नर्यमाविवासात्	७९१
२	त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्यामप्रयुतामेवयावो मतिं दाः ।	
	पर्चो यथा नः सुवितस्य भूरेरश्वावतः पुरुश्चन्द्रस्य रायः	७९२
३	त्रिर्देवः पृथिवीमेष एतां वि चक्रमे शतर्चसं महित्वा ।	
	प्र विष्णुरस्तु तवसस्तवीयान् त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम	७९३
४	वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन् ।	
	ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास उरुक्षितिं सुजनिमा चकार	७९४

उस मेरे दिये हविष्यान्नका सेवन करो। (मे सुष्टुतयः गिरः त्वा वर्धन्तु) मेरी उत्तम स्तुतियां तुम्हारे यशका संवर्धन करें। (यूयं नः स्वस्तिभिः सदा पात) तुम हमारा कल्याणमय साधनोंसे सदा संरक्षण करो।

[१] (७९१) (सः मर्तः सनिष्यन् नु दयते) वही मनुष्य धनकी इच्छा करके सत्वर धनको प्राप्त करता है (यः उरुगायाय विष्णवे दाशत्) जो बहुतों द्वारा प्रशंसनीय विष्णुके लिये हवि देता है। (यः सत्राचा मनसा प्र यजाते) जो साथ साथ कहे जानेवाले मन्त्रोंसे मनन पूर्वक विष्णुके लिये यज्ञ करता है, (यः एतावन्तं नर्यं आविवासत्) जो ऐसे मनुष्योंके हितकर्ता विष्णुकी पूजा करता है।

[२] (७९२) हे (एवयावः विष्णो) कामनाओं की पूर्णता करनेवाले विष्णु! तुम (विश्वजन्यां अप्रयुतां सुमतिं मतिं दाः) हमें सर्वजन हितकारी दोष रहित उत्तम विचारोंसे युक्त ऐसी बुद्धि दो। तुम (सुवितस्य अश्वावत् पुरुश्चन्द्रस्य भूरेः रायः) सुखसे प्राप्त होने योग्य घोडोंसे युक्त अत्यंत आल्हाददायक विपुल धनका (पर्चः यथा) संपर्क जिस तरह हो सके ऐसा करो। ऐसा धन हमें मिले।

१ विश्वजन्यां अप्रयुतां सुमतिं मतिं दाः— हमें ऐसी बुद्धि दो कि जो सार्वजनिक हित करनेमें तत्पर रहे, प्रमाद न करनेवाली हो, उत्तम विचारोंसे युक्त हो, मननशील हो। ऐसी बुद्धि हमें दो।

२ सुवितस्य अश्वावतः पुरुश्चन्द्रस्य भूरेः रायः पर्चः— सहजसे प्राप्त होनेवाला, घोडे गौवें आदि पशु जिसके साथ हैं, अत्यंत आल्हाददायक ऐसा बहुत धन हमें प्राप्त हो। हम धन धान्य संपन्न हों।

[३] (७९३) (एषः देवः विष्णुः) इस विष्णु देवने (शतर्चसं एतां पृथिवीं) सैंकडों तेजोंवाली इस भूमीपर (महित्वा त्रिः वि चक्रमे) अपनी महिमासे तीन वार पराक्रम किया। (तवसः तवीयान् विष्णुः प्र अस्तु) बडोंसे बडा यह विष्णु हमारा सहायक हो। (अस्य स्थविरस्य नाम त्वेषं हि) इस बडे देवका नाम तेजस्वी है।

विष्णु यह सूर्य है, यह अपने तेजसे सर्वव्यापक देव है। इसका नाम तेजस्वी है। जो इसका नाम लेता है वह तेजस्वी होता है।

[४] (७९४) (एषः विष्णुः एतां पृथिवीं) यह विष्णुदेव इस पृथिवीको (क्षेत्राय मनुषे दशस्यन्) निवास के लिये मनुष्योंको देनेकी इच्छासे (विचक्रमे) पराक्रम करता रहा। (अस्य कीरयः जनासः ध्रुवासः) इसके स्तोता गण यहां सुस्थिर होते हैं। यह (सुजनिमा उरुक्षितिं चकार) उत्तम जन्म लेनेवाला विस्तीर्ण निवास स्थान बनाता है।

१ एष विष्णुः एतां पृथिवीं क्षेत्राय मनुषे दशस्यन् विचक्रमे— यह विष्णु इस पृथिवीको मानवोंके निवासके

(पृ० २२२ से)

(१ ऋषि दयानन्दका समर्थन। २ पं० चमुपतिजीका मत। ३ पं० सातवलेकरजीके अर्थ। ४ प्रकृतिका जीवेश्वरपर प्राबल्य। ५ आर्यसमाजके नियम बदलने पड़ेंगे। ६ वेद मंत्रका नास्तिकवादी अर्थ। ७ वेद मंत्रका देवता अनुसार अर्थ।)

खण्ड ८-

इन्द्रियस्पर्श मंत्रोंके नवीन अर्थ।

खण्ड ९-

मार्जन मंत्रोंके नवीन अर्थ (दोनोंका देवता सूर्य)

खण्ड १०-

प्राणायाम मंत्रमें सूर्योपासना। सूर्यसे सृष्ट्युत्पत्ति।

खण्ड ११-

संध्या हवन सफल क्यों नहीं होते ?

(क- गणानां त्वा गणपतिं। ख- शं नो देवी०। ग- पोपटपंथी सन्ध्या हवन। घ- आजके यज्ञोंका नमूना। ङ- संध्या हवनके मंत्र देशकाल अवस्थाके अनुसार बदलने चाहिएं। च- पत्तोंपानीसे हवन कीजिए- परन्तु साकार सूर्यके लिए निराकार परमात्माके लिए नहीं। छ- अध्यापारेषु व्यापार न करो। ज- सूर्य ही ईसाइयोंका ईसा है। झ- उपासना=उपवास=उपस्थान। ञ- उपस्थानके मंत्रोंपर विचार)

अध्याय ३ के इन ११ खण्डोंमें आर्य समाजकी संध्यासे सूर्योपासना सिद्ध करते हुए स्वयं वेदके प्रमाणोंने सूर्यको ही उपास्य देव सिद्ध किया है और इसीके लिए हवन करना सिखाया है। लोग कहते हैं आर्यसमाज शिथिल हो चुका है। कईयोंको मत है कि आर्यसमाज वेद प्रचार नहीं कर रहा है। लेखकको शंका है कि आर्यसमाज वेदविरोध भी कर रहा है। वह वेद संहिताओंकी देवताएं स्वीकार करता है, वेदोंमें छापता है, परन्तु तद्नुसार मंत्रोंके अर्थ इसलिए नहीं लगाता कि ऐसा करनेसे उसे अपने मनमाने निराकार ईश्वरकी उपासना छोड़नी पड़ेगी! अतः आर्य विद्वानोंसे प्रार्थना है कि या तो वे मंत्रोंके अर्थ देवता अनुसार लगाएं या वेद संहिताओंमें ऋषि देवता छापना बंद कर दें- निरुपयोगी जो हुए।

ऋषि दयानन्दको यद्यपि आजतक उनके अनुयाइयों और विरोधियों दोनोंने एक स्वरसे निराकार ईश्वरका उपासक तथा प्रचारक माना है, तथापि लेखकको उनमें सूर्योपासनाका प्रचारक भी दीख रहा है! ठंडे हृदयसे विचार होना चाहिए।

ऋषि दयानन्दने वेदके परिशुद्ध प्रचार करनेके निमित्त आर्यसमाजकी स्थापना की थी, न उसमेंसे द्वैत आदि किसी वादको बलात्कार खैंच निकालनेके लिए! ऋषिने सत्यको वेदसे ग्रहण करानेके लिए आर्य समाजका ४ था नियम बनाया था। परंतु ये दोनों काम आर्यसमाज छोड़ चुका है। चंदा करके वार्षिकोत्सव मना लेनेमें ही वह आज धन्यता मान रहा है। वेदपर न तो पत्रोंमें लिखा जाता है, और न पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। इस दुरावस्थाको यदि शीघ्र न बदला जायगा तो बड़ी हानि होगी।

सनातनधर्मियों वा हिंदू सभाइयोंने वेदका प्रचार होना असंभव है। यह कार्य आर्यसमाज ही कर सकता है, ऐसा लेखकका विश्वास है। साम्प्रदायिक दृष्टिकोणको त्याग कर वेदको वेदके शब्दों-अर्थोंमें समझनेका प्रयत्न करनेसे ही 'सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग' हो सकेगा। ऋषि दयानन्दका उद्देश्य वैदिक सत्यकी प्राप्ति था, और इसीको पानेके लिए ये लेख यथाशक्ति यथा मति लिखे जा रहे हैं। इत्योम्!